राष्ट्रभाषा हिन्दी का वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में निहितार्थ

डॉ0 तुषार रंजन

सहायक आचार्य, बी0एड0 विभाग,
शिवपति स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शोहरतगढ़
जनपद–सिद्धार्थनगर (उ0प्र0)–272205

प्रस्तावना–

प्राचीनकाल में हमारी भाषा नीति स्पष्ट थी। संस्कृत देववाणी थी। फिर समय बदला। मुगलों के शासनकाल में फारसी का बोलबाला प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासन काल में मैकाले के प्रयासों के पश्चात राजभाषा अंग्रेजी बनी।

पुनः समय बदल। हम स्वतंत्र हुए। गणतन्त्र की स्थापना के साथ ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया गया। इसके पीछे स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गाँधी का योगदान सबसे प्रमुख है।

''राष्ट्रभाषा की समस्या को लेकर धर्म, प्रदेश, क्षेत्र, आधुनिकता, व्यापार–वाणिज्य, तकनीकी विकास आदि को समय–समय पर प्रस्तुत किया जाता रहा है कि यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा बनेगी तो इससे धार्मिक विद्वेष बढ़ेगा। हम आधुनिकता की दृष्टि से पिछड़ जायेगें। बिना अंग्रेजी के आधुनिक व्यापार–वाणिज्य सम्भव नही है। हिन्दी तकनीकी भाषा नही है। ऐसे न जाने कितने वायवीय तर्क–कुतर्क प्रस्तुत किये गये।...''

स्वतन्त्रता से पहले हिन्दी का पठन–पाठन राष्ट्र सेवा का एक अंग समझा जाता था। आज 'हिन्दी वाला' प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा का सूचक हो गया है। यदि हमारी नीति इसी प्रकार रही तो राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगान, संविधान–आदि का हम भारतीय कितने दिनों तक आदर करेंगे, कहा नही जा सकता। अहिन्दी भाषी राज्यों में ही नहीं, हिन्दी भाषी राज्यों में भी हिन्दी के प्रति उदासनीता दिखाई पड़ती है।

''...हिन्दी के विकास के लिए कार्यशालाएं आयोजित की जाती हैं। 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलनकारियों की दुकानदारी भी इसलिए चल रही है कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है।.....हिन्दी दिवस बीत गया, अब अगले साल आयेगा, पर निराशा की कोई बात नही हैं। अभी हिन्दी पखवाड़ा व हिन्दी मास शेष है। आओ कुछ दिन और हिन्दी उत्सव मनाएँ।''

महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा को राष्ट्र के लिए नितान्त आवश्यक मानते थे। उनका कहना था, *''राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूंगा है।.... हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।''*

वर्ष 1918 ई0 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देत हुए **गाँधी जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी** का समर्थन किया, *''मेरा मत है कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है और होनी चाहिए।''*

हिन्दी पश्चिम में अम्बाला (हरियाणा) से लेकर पूर्व में पूर्णिया (बिहार) तक तथा उत्तर में बद्रीनाथ–केदारनाथ (उत्तराखण्ड) से लेकर दक्षिण में खंड़वा (मध्य प्रदेश) तक बोली जाती है। इसे हिन्दी भाषी क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत 9 राज्य– उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश तथा 1 केन्द्र शासित प्रदेश दिल्ली आते हैं। इस क्षेत्र में भारत की जनसंख्या के 43% लोग रहते है।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अंगीकर किया गया; परन्तु आज भी देश के कई प्रान्तों ने इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार नही किया है। हिन्दी विश्व की सबसे सरल, सुकोमल एवं वैज्ञानिक भाषा है; फिर भी अपने ही देश में इसका विरोध जारी है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रगति के लिए सरकारी प्रयास ही प्रर्याप्त नही होंगे, वरन् इसके लिए जनसाधारण का सहयोग भी अपेक्षित है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के अनुसार,

''...हिन्दी के प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते है। वह राष्ट्रीय होने के लायक भी है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है; जिसे अधिक संख्या में लोग जानते हो, बोलते हो और जो सीखने में सुगम हो।''

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार सर्वप्रथम बंगाल में उदित हुआ। आज हिन्दी हमारे राष्ट्र की भाषा है। भारत के अधिकांश भाग में हिन्दी शिक्षा का माध्यम है। आज ज्ञान–विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिन्दी के उपयोग को वरीयता दी जाती है। हिन्दी की देवनागरी लिपि सरल एवं वैज्ञानिक है। इसका प्रत्येक शब्द हर समय पर एक ही ध्वनि देता है। इसमें अर्थ और भावों की अभिव्यक्ति के लिए अपार क्षमताएँ है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने पर भारी विवाद उपस्थित हुआ। आज के भौतिक युग में सफलता प्राप्त करने के लिए हिन्दी में कुछ विषयों की अच्छी पुस्तकों का अभाव है। अधिक वैज्ञानिक जानकारी के लिए शिक्षकों को भी अंग्रेजी का मुँह ताकना पड़ता है। इस समय हम खड़ी बोली को हिन्दी के रूप में बोलते है।

भाषा शक्ति एक महान शक्ति है। भाषा के शीघ्र परिवर्तन को रोकने के लिए ही व्याकरण का उस पर नियंत्रण कर दिया गया है।

संविधान में हिन्दी के सारे अधिकार बिना शर्त अंग्रेजी के दे दिए गए हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद तो दे दिया गया, लेकिन अधिकारों के नाम पर उसे अंग्रेजी की जूठन पर पलने को मोहताज रखा गया।

हम कल्पना की बाड़ें खड़ी कर रहे है। हम परायी भाषा की बैसाखियाँ लेकर सामाजिक परिवर्तन और प्रगति का पर्वत चढ़ना चाहते हैं। लेकिन कठिन प्रश्नों को अलमारी में बंद रखने से वे और भी कठिन हो जाते है और अन्ततः सभी सम्भावित उदार खो देते है।

हिन्दी भाषा में, विज्ञान वर्ग के लिए, अच्छी पुस्तकें उपलब्ध नहीं है। हिन्दी को वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के ज्ञान का माध्यम बनाने के लिए उपयुक्त शब्दावली तथा विश्वविद्यालय स्तर के मानक ग्रन्थों का निर्माण आवश्यक है। वैज्ञानिक कार्यों में हिन्दी का प्रयोग करने के लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है, जिसकी कमी दिखाई पड़ती है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उपेक्षा की जा रही है। सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने के लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है, जिसकी कमी दिखाई पड़ती है। लोग यह सोचने लगे है कि शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा हिन्दी, विद्यार्थियों के लिए भविष्य में समस्याएँ उत्पन्न करती हैं और भविष्य के दृष्टिकोण से इसकी उपयोगिता अल्पज्ञ ही है।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हिन्दी का महत्व–

भावात्मक एवं राष्ट्रीय आवश्यकता आधुनिक भारत की एक महत्वपूर्ण भाग है, जिसे किसी के द्वारा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। आज भारत में जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता है– वह भावात्मक एकता ही है, जिसके फलस्वरूप आन्तरिक कलह एवं संघर्ष देश प्रगति पर घातक प्रभाव न डाल सके भावात्मक एकता के लिए अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके अध्ययन से बालकों में विभिन्न अवधारणाएं विकसित की जा सकती है, जो भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकता के लिए आधारशिला का कार्य करेगी।

1. भारतीय धार्मिक चारों धामों बद्रीनाथ, पुरी, रामेश्वर तथा द्वारिका में हिन्दी का बाहुल्य है। यह धार्मिक स्थल भी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देते है।
2. राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हिन्दी भषा भावात्मक अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम है। हिन्दी भारत की वाणी रही है। हिन्दी भाषी क्षेत्र का ह्रदय माना जाता है। हिन्दी साहित्य की रचनायें भारत की संस्कृति का प्रतीक है किसी विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित नही है।
3. राष्ट्रभाषा का महत्व राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकता को बनाये रखने में होता है।

निष्कर्ष–

हिन्दी को वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के ज्ञान का माध्यम बनाने के लिए शब्दावली तथा उच्च स्तर के मानक ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिए। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करें जिससे वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। हिन्दी के शब्द भण्डार के लिए संस्कृत व अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करें।

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। हिन्दी का कोई मानक रूप न होना बड़ी समस्या है। अतः हिन्दी व्याकरण का प्रमाणीकरण भी किया जाना चाहिए।

''व्याकरण भाषा का अनुशासन है, होगा न नष्ट स्वरूप।
लेकिन जड़ विनाशक है, तो परिवर्तित होगा ही रूप।।''

हिन्दी भाषा के व्याकरण के सरलीकरण का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि विद्यार्थियों में हिन्दी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का उदय हो।

हिन्दी की देवनागरी लिपि को और अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करना चाहिए। नवीन प्रयोगों व आधुनिकीकरण से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में समर्थ एवं सर्वमान्य बनाना चाहिए जिससे हिन्दी भाषा विद्यार्थी आसानी से ग्रहण कर सकें।

भाषण, गोष्ठी, टिप्पणी लेखन, सार–लेखन, समाचार प्रेषण, रेडियो–प्रसारण आदि माध्यमों के द्वारा विद्यार्थियों को हिन्दी से परिचित कराना चाहिए। हिन्दी में अनुसंधान हेतु प्रेरित करना तथा अनुसंधान हेतु छात्रवृत्ति की व्यवस्था होनी चाहिए। हिन्दी भाषा में उच्च शिक्षा के लिए अच्छी पुस्तकें उपलब्ध कराना चाहिए। हिन्दी भाषी क्षेत्र के विद्यार्थियों के मानसिक व बौद्धिक विकास के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी का ज्ञान अवश्य देना चाहिए।यह सब तभी सम्भव होगा जब हिन्दी विरोधी अपनी स्वार्थमयी कुण्ठाओं को त्याग दे और हिन्दी को वैज्ञानिक व तकनीकी विषयों के ज्ञान का माध्यम बनाया जाए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। यदि हिन्दी–विरोधी अपनी स्वार्थमयी कुण्ठाओं को त्याग दें और हिन्दी–भाषी भी धैर्य सन्तोष और प्रेम से काम लें तो हिन्दी–भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में भारत के लिए समस्या न बनकर राष्ट्रीय जीवन का आदर्श बन जायेगी।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची</u> :–

1. चतुर्वेदी शिखा (2003) ''हिन्दी शिक्षण'' आर0लाल बुक डिपो प्रकाशन, मेरठ, पेज नं0 3
2. द्विवेदी, कपिलदेव (2002)– *भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र,* वाराणसीः विश्वविद्यालय प्रकशन चौक।
3. पाण्डेय, राम शकल (2010)– *हिन्दी शिक्षण,* आगराः अग्रवाल पब्लिकेशन।
4. बाहरी, हरदेव (1965)– *हिन्दी उद्‌भव, विकास और रूप,* इलाहाबादः किताब महल, 22–ए, सरोजनी नायडू मार्ग।
5. मटियानी, शैलेश– *हिन्दी के तल्ले पर अंग्रेजी की जूती,* इलाहाबाद, दैनिक जागरण (10 सितम्बर 1989)
6. वर्मा, विमलेश कान्ति (2007)– *भाषा साहित्य और संस्कृति,* नई दिल्लीः ओरियण्टल ब्लैक स्वॉन प्राइवेट लिमिटेड।
7. शर्मा, राम किशोर (2007)– *हिन्दी भाषा का विकास,* इलाहाबादः श्यामा प्रकाशन संस्थान, बक्सी खुर्द, दारागंज।
8. हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का मुखपत्र (1993)– *राष्ट्रभाषा संदेश*।

भारतीय ज्ञान प्रणाली के मुख्य घटक

डॉ अरविन्द शुक्ल (एसोसिएट प्रोफेसर)

विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र एवं योग विभाग
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय),
प्रयागराज

भारतीय ज्ञान प्रणाली का परिचय (Introduction to Indian Knowledge System)

भारतीय ज्ञान प्रणाली ज्ञान का खजाना है जो विविध विषयों और दृष्टिकोण को एकीकृत करता है। इसके धर्म, कर्म और पुरोहित के सिद्धांतों को समझकर और गुरुओं के मार्गदर्शन के माध्यम से, व्यक्ति और समाज समग्र कल्याण प्राप्त कर सकते हैं और समकालीन चुनौतियों का समाधान कर सकते हैं। जैसा कि हम आधुनिक शिक्षा और अनुसंधान के साथ आई. के. एस. को पुनर्जीवित और एकीकृत करते हैं, यह स्थायी समाधान प्रदान करने और हमारी सामूहिक चेतना को समृद्ध करने का वादा करता है। पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक पद्धतियों के साथ संरेखित करके, आई. के. एस. में संतुलित और समावेशी तरीके से वैश्विक प्रगति में योगदान करने की अपार क्षमता है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली (आई. के. एस.) ज्ञान का एक विशाल और जटिल भंडार है जो सहस्राब्दियों में विकसित हुआ है, जिसकी जड़ें भारत के प्राचीन ग्रंथों, जैसे कि वेदों, उपनिषदों और अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में गहरी हैं। भारतीय सभ्यता का आधार माने जाने वाले ये ग्रंथ अस्तित्व की प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव जीवन और उनके बीच परस्पर निर्भरता के बारे में गहरी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। आध्यात्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्रों तक सीमित होने के बजाय, आई. के. एस. जीवन की एक समग्र समझ का प्रतीक है, जिसमें दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा, शासन, कला और आध्यात्मिकता जैसे विविध क्षेत्र शामिल हैं। यह आई. के. एस. की सर्वव्यापी प्रकृति है जो इसे एक कालातीत मार्गदर्शक बनाती है, जो प्राचीन और समकालीन दोनों चुनौतियों का समाधान करने में सक्षम है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली के केंद्र में परस्पर जुड़ाव का दर्शन है–एक मान्यता कि जीवन के सभी पहलू जटिल रूप से आपस में जुड़े हुए हैं और इन्हें अलग–अलग नहीं समझा जा सकता है। यह वैश्विक दृष्टिकोण न केवल व्यक्तिगत विकास पर जोर देता है बल्कि सामूहिक सद्भाव और मानवता और प्रकृति के बीच संतुलन को भी रेखांकित करता है। अपने एकीकृत और अंतःविषय दृष्टिकोण के माध्यम से, आई. के. एस. का उद्देश्य आध्यात्मिक आकांक्षाओं के साथ

भौतिक गतिविधियों को सुसंगत बनाना, अर्थ, उद्देश्य और कल्याण का जीवन सुनिश्चित करना है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली की नींव

भारतीय ज्ञान प्रणाली की उत्पत्ति का पता वेदों से लगाया जा सकता है, जो मानव ज्ञान का सबसे पुराना भंडार माने जाने वाले ग्रंथों का एक संग्रह है। ष्वेदष शब्द का अर्थ स्वयं ष्ज्ञानष है, जो लौकिक और स्थानिक सीमाओं को पार करने वाले ज्ञान के स्रोत के रूप में इसकी भूमिका को दर्शाता है। चार वेद–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद–आई. के. एस. की नींव बनाते हैं, जिनमें से प्रत्येक जीवन और ब्रह्मांड के विभिन्न पहलुओं को संबोधित करता है। उपनिषद, जिन्हें अक्सर वैदिक विचार की पराकाष्ठा के रूप में जाना जाता है, वास्तविकता (ष्ब्राह्मणष) और स्वयं (ष्आत्माष) की प्रकृति की खोज करते हुए आध्यात्मिक और आध्यात्मिक प्रश्नों में गहराई से उतरते हैं।

समय के साथ, ज्ञान के इस निकाय का विस्तार ऋषियों, विद्वानों और चिकित्सकों के योगदान के माध्यम से हुआ जिन्होंने विशेष विषयों को विकसित किया। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद से व्युत्पन्न आयुर्वेद का विज्ञान स्वास्थ्य और कल्याण के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है। इसी तरह, अर्थशास्त्र और मनुस्मृति जैसे ग्रंथ शासन, अर्थशास्त्र और कानून में अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं, जबकि नाट्य शास्त्र कला, विशेष रूप से नाटक और प्रदर्शन पर विस्तार से बताता है। ये योगदान आई. के. एस. की गतिशील और विकसित प्रकृति को दर्शाते हैं, जिसने समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए लगातार अनुकूलन किया है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली (आई. के. एस.) को प्रामाणिक रूप से भारतीय उपमहाद्वीप में सहस्राब्दियों से विकसित ज्ञान, प्रथाओं और परंपराओं के समग्र, अंतःविषय संग्रह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसकी जड़ें वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास और अन्य शास्त्रीय ग्रंथों जैसे प्राचीन ग्रंथों में निहित हैं। इसमें दर्शन, विज्ञान, गणित, खगोल विज्ञान, चिकित्सा, कला, नैतिकता, आध्यात्मिकता और शासन सहित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति, समाज और ब्रह्मांड को समझना और सामंजस्य स्थापित करना है।

आई. के. एस. की विशेषता धर्म (धार्मिक जीवन) परस्पर जुड़ाव और जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक आयामों को संतुलित करने के लिए निरंतरता पर बुनियादी जोर देना है। इसके सिद्धांत भारतीय विश्व दृष्टिकोण में गहराई से अंतर्निहित हैं, जो अनुभवात्मक शिक्षा, मौखिक परंपराओं और गुरु–शिष्य (शिक्षक–छात्र) शिक्षाशास्त्र पर जोर देते हैं। आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के साथ अनुभवजन्य ज्ञान को एकीकृत करके, आई. के. एस. व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों चुनौतियों के लिए कालातीत समाधान प्रदान करता है, जिससे यह सभी उम्र और संस्कृतियों के लिए प्रासंगिक हो जाता है।

आई. के. एस. में दर्शन और नैतिकता

दर्शन भारतीय ज्ञान प्रणाली की आधारशिला है, जो अस्तित्व, नैतिकता और ब्रह्मांड के मौलिक प्रश्नों को समझने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है। भारतीय दर्शन अखंड नहीं है, लेकिन इसमें वेदांत, न्याय, सांख्य और मीमांसा जैसे विविध विचारधाराएँ शामिल हैं, जिनमें से प्रत्येक वास्तविकता और मानव जीवन पर अद्वितीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अपने मतभेदों के बावजूद, ये स्कूल समान विषयों को साझा करते हैं, जैसे कि सत्य की खोज, नैतिक आचरण का महत्व और मुक्ति का अंतिम लक्ष्य (ष्मोक्षष)। नैतिकता, या धर्म, आई. के. एस. के केंद्र में है और व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में कार्य करता है। धर्म केवल नियमों का एक समूह नहीं है, बल्कि एक गतिशील अवधारणा है जो व्यक्तिगत कर्तव्यों और सामूहिक कल्याण के बीच सामंजस्य सुनिश्चित करते हुए संदर्भ के अनुकूल है। इसमें सत्य (ष्सत्यष) करुणा (ष्करुणाष) और अहिंसा (ष्अहिंसाष) जैसे सार्वभौमिक मूल्य शामिल हैं जो समय और संस्कृतियों में प्रासंगिक हैं।

आई. के. एस. में विज्ञान और प्रौद्योगिकी

भारतीय ज्ञान प्रणाली के उल्लेखनीय पहलुओं में से एक विज्ञान और प्रौद्योगिकी में इसका योगदान है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने गणित, खगोल विज्ञान, धातु विज्ञान और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की। एक प्रख्यात गणितज्ञ और खगोलशास्त्री आर्यभट्ट ने शून्य और दशमलव प्रणाली जैसी अवधारणाओं की शुरुआत की, जिसने गणित में क्रांति ला दी। इसी तरह, शल्य चिकित्सा में सुश्रुत के अग्रणी कार्य, जिसे सुश्रुत संहिता में प्रलेखित किया गया है, ने आधुनिक शल्य चिकित्सा तकनीकों की नींव रखी।

खगोल विज्ञान, जिसे ज्योतिषा के नाम से जाना जाता है, एक और क्षेत्र था जहाँ भारतीय विद्वानों ने उत्कृष्ट प्रदर्शन किया। सूर्य सिद्धांत जैसे ग्रंथ खगोलीय गतिविधियों, ग्रहणों और ग्रहों की स्थितियों की विस्तृत गणना प्रदान करते हैं, जो ब्रह्मांड की एक परिष्कृत समझ को दर्शाते हैं। इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को अलग–अलग नहीं किया गया था, बल्कि आई. के. एस. के समग्र दृष्टिकोण को उजागर करते हुए दार्शनिक और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के साथ एकीकृत किया गया था।

आई. के. एस. में कला और सौंदर्यशास्त्र

भारतीय ज्ञान प्रणाली में कलाओं का एक प्रमुख स्थान है, जो सभ्यता के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक लोकाचार को दर्शाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत, नृत्य और दृश्य कलाएं केवल मनोरंजन के रूप नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक अभ्यास और दार्शनिक जांच में गहराई से निहित हैं। नाट्य शास्त्र, जिसका श्रेय भरत को दिया जाता है, एक मौलिक पाठ है जो नाटक, संगीत और नृत्य के सिद्धांत और अभ्यास की खोज करता है। यह ष्रसष, या सौंदर्य अनुभव की अवधारणा

का परिचय देता है, जो दर्शकों में भावनात्मक और आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओं को जगाने का प्रयास करता है।

इसी तरह, महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों से लेकर शास्त्रीय कविता और गद्य तक, भारतीय साहित्य नैतिक और दार्शनिक शिक्षाओं को व्यक्त करने के माध्यम के रूप में कार्य करता है। ये कृतियाँ न केवल साहित्यिक कला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों के भंडार भी हैं, जो मानव व्यवहार और सामाजिक गतिशीलता पर कालातीत सबक प्रदान करते हैं।

शिक्षा और गुरु की भूमिका

भारतीय ज्ञान प्रणाली में शिक्षा केवल सूचना प्राप्त करने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि आत्म–प्राप्ति और सामाजिक योगदान के उद्देश्य से एक परिवर्तनकारी यात्रा है। गुरु–शिष्य (शिक्षक–छात्र) परंपरा इस शैक्षिक मॉडल की आधारशिला है, जो व्यक्तिगत मार्गदर्शन और अनुभवात्मक शिक्षा पर जोर देती है। गुरु एक प्रशिक्षक से अधिक हैंय वे एक मार्गदर्शक हैं जो छात्र में बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास को बढ़ावा देते हैं।

यह परंपरा, जो सदियों से संरक्षित है, ज्ञान की प्रामाणिकता और निरंतरता सुनिश्चित करती है। मौखिक संचरण और व्यावहारिक अनुप्रयोग के माध्यम से, छात्र शिक्षाओं को आत्मसात करते हैं और उन्हें वास्तविक जीवन की स्थितियों में लागू करते हैं। इस परंपरा के उल्लेखनीय उदाहरणों में गुरुकुल प्रणाली शामिल है, जहां छात्र अपने गुरुओं के साथ एक तल्लीन वातावरण में ज्ञान और मूल्यों को आत्मसात करने के लिए रहते थे। शिक्षा के लिए यह समग्र दृष्टिकोण न केवल बौद्धिक क्षमताओं बल्कि चरित्र और नैतिक आचरण को भी पोषित करता है।

आध्यात्मिक अभ्यास और आत्म–प्राप्ति

आध्यात्मिकता भारतीय ज्ञान प्रणाली के केंद्र में है, जो आत्म–प्राप्ति और आंतरिक परिवर्तन के लिए तरीकों और प्रथाओं की पेशकश करती है। योग, आई. के. एस. का एक उत्कृष्ट योगदान, एक दर्शन और एक अभ्यास दोनों है जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आयामों को एकीकृत करता है। पतंजलि के योग सूत्र अनुशासन (यम), आत्म–अध्ययन (स्वाध्याय) और ध्यान (ध्यान) जैसे सिद्धांतों पर जोर देते हुए आत्म–प्रभुत्व और मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्थित मार्ग की रूपरेखा तैयार करते हैं।

इसी तरह, वेदांत, उपनिषदों पर आधारित एक दार्शनिक प्रणाली, वास्तविकता की प्रकृति और अस्तित्व की अंतिम एकता की खोज करती है। यह सिखाता है कि आत्म (ष्आत्माष) सार्वभौमिक चेतना (ष्ब्रह्मष) के समान है और इस सत्य की प्राप्ति जन्म और पुनर्जन्म (ष्संसारष) के चक्र से मुक्ति की ओर ले जाती है।

ये आध्यात्मिक अभ्यास तपस्वियों तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि व्यक्तिगत विकास और सामाजिक सद्भाव के लिए उपकरण प्रदान करते हुए सभी के लिए सुलभ हैं। इन प्रथाओं को दैनिक जीवन में एकीकृत करके, व्यक्ति आंतरिक शांति, लचीलापन और उद्देश्य की भावना पैदा कर सकते हैं।

धर्म, कर्म और चार पुरोहित

धर्म, कर्म और चार पुरोहितों की अवधारणाएँ भारतीय ज्ञान प्रणाली के नैतिक और दार्शनिक मूल का निर्माण करती हैं। धर्म, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, उन सिद्धांतों को संदर्भित करता है जो ब्रह्मांड और समाज में व्यवस्था और सद्भाव को बनाए रखते हैं। यह गतिशील और संदर्भ–संवेदनशील है, जो व्यक्तियों को अपनी भूमिकाओं और जिम्मेदारियों के साथ संरेखण में कार्य करने के लिए मार्गदर्शन करता है।

कर्म, या क्रिया, कारण और प्रभाव के सिद्धांत को रेखांकित करता है, जो जवाबदेही और नैतिक आचरण पर जोर देता है। कर्म के नियम के अनुसार, प्रत्येक क्रिया परिणाम उत्पन्न करती है, जो किसी व्यक्ति के भविष्य के अनुभवों को आकार देती है। यह सिद्धांत जिम्मेदारी की भावना को बढ़ावा देता है और भगवद गीता में प्रतिपादित निस्वार्थ कार्य (ष्निष्काम कर्मष्) को प्रोत्साहित करता है।

पुरुशार्थ, या जीवन के चार लक्ष्य, मानव अस्तित्व के लिए एक व्यापक ढांचा प्रदान करते हैं। इनमें शामिल हैंः–

1) धर्मः नैतिक और नैतिक जीवन।
2) अर्थः भौतिक समृद्धि और आर्थिक कल्याण।
3) कामः इच्छाओं की पूर्ति और भावनात्मक संतुष्टि।
4) मोक्षः सांसारिक आसक्ति और आत्म बोध से मुक्ति।

ये उद्देश्य पारस्परिक रूप से अनन्य नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे पर निर्भर हैं, जो जीवन के लिए एक संतुलित और समग्र दृष्टिकोण सुनिश्चित करते हैं। वे व्यक्तियों को नैतिक आचरण की सीमा के भीतर भौतिक और भावनात्मक पूर्ति का पीछा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, जिससे अंततः आध्यात्मिक विकास होता है।

आई. के. एस. की समकालीन प्रासंगिकता

आज की तेज गति और खंडित दुनिया में, भारतीय ज्ञान प्रणाली (आई. के. एस.) में समकालीन चुनौतियों का समाधान करने और सतत विकास को बढ़ावा देने की अपार क्षमता है। आईकेएस के सबसे महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक परस्पर जुड़ाव और समग्र कल्याण पर जोर देना है, जो सिद्धांत आर्थिक प्रगति और पारिस्थितिक स्थिरता के बीच संतुलन की वर्तमान वैश्विक आवश्यकता के साथ गहराई से प्रतिध्वनित होते हैं। आई. के. एस. एक कालातीत ढांचा प्रदान

करता है जो स्वास्थ्य, शिक्षा, शासन, नैतिकता और पर्यावरण संरक्षण सहित मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को संबोधित करते हुए प्राचीन ज्ञान को आधुनिक प्रथाओं के साथ जोड़ता है।

भारत के प्राचीन ग्रंथों, जैसे कि वेदों, उपनिषदों और अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में गहरी हैं। भारतीय सभ्यता का आधार माने जाने वाले ये ग्रंथ अस्तित्व की प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव जीवन और उनके बीच परस्पर निर्भरता के बारे में गहरी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

वेद और उपनिषद जैसे प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त आई. के. एस. के मूलभूत सिद्धांत समकालीन मुद्दों की जटिलताओं को दूर करने के लिए एक मार्गदर्शक प्रकाश के रूप में कार्य करते हैं। ये सिद्धांत हमें सभी चीजों के परस्पर जुड़ाव को पहचानते हुए जीवन को समग्र रूप से देखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

स्थिरता और पर्यावरणीय प्रबंधन

आई. के. एस. प्रकृति और स्थिरता के सिद्धांतों के प्रति गहरे सम्मान पर जोर देता है। वेद और उपनिषद जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ सभी जीवित प्राणियों और पर्यावरण के परस्पर जुड़ाव पर प्रकाश डालते हैं। अथर्ववेद से ष्शीताष (ब्रह्मांडीय क्रम) और ष्पृथ्वी सूक्तष जैसी अवधारणाएँ प्रकृति के साथ सद्भाव में रहने के महत्व को रेखांकित करती हैं। यह पारिस्थितिकीय जागरूकता आज विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि दुनिया जलवायु परिवर्तन, संसाधनों की कमी और पर्यावरणीय क्षरण से जूझ रही है।

स्थायी कृषि, जल प्रबंधन और आई. के. एस. से प्राप्त जड़ी–बूटियों की दवा जैसी पारंपरिक पद्धतियाँ पर्यावरण प्रबंधन के लिए व्यावहारिक समाधान प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, वर्षा जल संचयन, फसल आवर्तन और जैविक खेती जैसी तकनीकों की जड़ें प्राचीन भारतीय प्रथाओं में हैं और इन्हें आधुनिक कृषि प्रणालियों के अनुकूल बनाया जा सकता है। इन समय–परीक्षित विधियों को समकालीन प्रौद्योगिकी के साथ एकीकृत करके, हम विकास के स्थायी मॉडल बना सकते हैं।

हेल्थ एंड वेलनेस

आयुर्वेद और योग की वैश्विक मान्यता शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कल्याण को बढ़ावा देने में आई. के. एस. की प्रासंगिकता को दर्शाती है। आयुर्वेद, दुनिया की सबसे पुरानी समग्र स्वास्थ्य प्रणालियों में से एक, निवारक देखभाल और मन, शरीर और आत्मा के बीच संतुलन पर जोर देती है। व्यक्तिगत संविधान (ष्प्रकृतिष) पर आधारित स्वास्थ्य देखभाल के लिए इसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण आधुनिक चिकित्सा के लिए मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करता है, विशेष रूप से जीवन शैली विकारों, पोषण और मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में।

इसी तरह, शारीरिक मुद्राओं, श्वास तकनीकों और ध्यान के एकीकरण के साथ योग ने शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ाने, तनाव को कम करने और मानसिक स्पष्टता प्राप्त करने के साधन के रूप में दुनिया भर में लोकप्रियता हासिल की है। अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस जैसी पहल इसके

वैश्विक प्रभाव को रेखांकित करती है, यह दर्शाती है कि कैसे प्राचीन प्रथाएं गतिहीन जीवन शैली, चिंता और थकान जैसी आधुनिक चुनौतियों का समाधान कर सकती हैं।

नैतिक नेतृत्व और शासन

आई. के. एस. नैतिक नेतृत्व और शासन के लिए एक मजबूत ढांचा प्रदान करता है, जिसकी जड़ें धर्म और न्याय के सिद्धांतों में निहित हैं। अर्थशास्त्र और मनुस्मृति जैसे ग्रंथ राज्य कला, आर्थिक प्रबंधन और सामाजिक व्यवस्था के लिए दिशा–निर्देश प्रदान करते हैं, जो नैतिक निर्णय लेने और सभी नागरिकों के कल्याण के महत्व पर जोर देते हैं। ये सिद्धांत आज के वैश्विक शासन के संदर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक हैं, जहां भ्रष्टाचार, असमानता और पर्यावरण शोषण जैसे मुद्दों के लिए नैतिक और टिकाऊ समाधान की आवश्यकता है।

उदाहरण के लिए, भगवद गीता में प्रतिपादित ष्लोकसंग्रहष (लोगों का कल्याण) की अवधारणा समावेशी विकास और सामाजिक उत्तरदायित्व के सिद्धांतों के साथ मेल खाती है। नीति निर्माण और कॉरपोरेट शासन में इन नैतिक ढांचे को शामिल करके, नेता ऐसी प्रणालियां बना सकते हैं जो अल्पकालिक लाभ पर दीर्घकालिक कल्याण को प्राथमिकता देती हैं।

अंतःविषय नवाचार

आई. के. एस. का अंतःविषय और एकीकृत दृष्टिकोण जटिल वैश्विक समस्याओं के लिए अभिनव समाधान प्रदान करता है। प्राचीन ज्ञान को आधुनिक ज्ञान के साथ जोड़कर, आई. के. एस. चिकित्सा और प्रौद्योगिकी से लेकर शिक्षा और पर्यावरण विज्ञान तक विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति को प्रेरित कर सकता है। उदाहरण के लिए, स्थायी और ऊर्जा–कुशल इमारतों का निर्माण करने के लिए वास्तु शास्त्र जैसी पारंपरिक भारतीय वास्तुकला प्रथाओं की पुनः व्याख्या की जा सकती है। इसी तरह, आयुर्गेनोमिक्स के सिद्धांत, जो आयुर्वेद को जीनोमिक्स के साथ एकीकृत करते हैं, व्यक्तिगत चिकित्सा में अभूतपूर्व संभावनाएं प्रदान करते हैं।

शैक्षणिक और अनुसंधान संस्थानों में आई. के. एस. का पुनरुद्धार अंतःविषय नवाचार की संस्कृति को बढ़ावा दे सकता है। शिक्षा मंत्रालय के तहत भारतीय ज्ञान प्रणाली प्रभाग (आई. के. एस. प्रभाग) जैसी पहलों का उद्देश्य आई. के. एस. को मुख्यधारा की शिक्षा में एकीकृत करना है, जिससे छात्रों और शोधकर्ताओं को समकालीन संदर्भों में इसके अनुप्रयोगों का पता लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

शिक्षा और सांस्कृतिक पहचान

आई. के. एस. को शिक्षा प्रणालियों में एकीकृत करने से सीखने के अनुभव समृद्ध हो सकते हैं और सांस्कृतिक पहचान और गौरव की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। आई. के. एस. आधारित पाठ्यक्रम शुरू करके, छात्र भारत की समृद्ध विरासत और वैश्विक ज्ञान में इसके योगदान की गहरी समझ प्राप्त कर सकते हैं। यह आलोचनात्मक सोच और समग्र शिक्षा को भी

बढ़ावा दे सकता है, क्योंकि आई. के. एस. विविध विषयों और अनुभवात्मक ज्ञान के एकीकरण को प्रोत्साहित करता है।

इसके अलावा, आई. के. एस. आधारित शिक्षा आधुनिक जीवन शैली और पारंपरिक मूल्यों के बीच बढ़ते अलगाव को दूर कर सकती है, जिससे युवा पीढ़ियों के बीच जड़ और नैतिक जिम्मेदारी की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। विशिष्ट शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम और डिजिटल प्लेटफॉर्म आई. के. एस. ज्ञान के प्रभावी ढंग से प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

वैश्विक प्रभाव और सांस्कृतिक कूटनीति

आई. के. एस. के सिद्धांतों और प्रथाओं की एक सार्वभौमिक अपील है, जो उन्हें सांस्कृतिक कूटनीति और वैश्विक सहयोग के लिए एक शक्तिशाली उपकरण बनाती है। योग, आयुर्वेद और भारतीय शास्त्रीय कलाओं की व्यापक स्वीकृति अंतर–सांस्कृतिक समझ और आपसी सम्मान को बढ़ावा देने के लिए आई. के. एस. की क्षमता को उजागर करती है। अपने समग्र विश्व दृष्टिकोण और स्थायी प्रथाओं को साझा करके, भारत जलवायु परिवर्तन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सामाजिक असमानता जैसी चुनौतियों से निपटने में वैश्विक प्रयासों में योगदान कर सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान प्रणाली (आई. के. एस.) ज्ञान का एक असाधारण भंडार है, जो समय, संस्कृति और भौगोलिक सीमाओं से परे अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। भौतिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक आयामों को एकीकृत करने की इसकी अनूठी क्षमता इसे आधुनिक जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण बनाती है। अपने मूल में, आई. के. एस. सद्भाव पर जोर देता है–अपने भीतर, समाज में व्यक्तियों के बीच, और मानवता और प्रकृति के बीच। यह सामंजस्य केवल एक दार्शनिक आदर्श नहीं है, बल्कि एक संतुलित और सार्थक जीवन जीने के लिए एक व्यावहारिक मार्गदर्शक है।

वेद और उपनिषद जैसे प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त आई. के. एस. के मूलभूत सिद्धांत समकालीन मुद्दों की जटिलताओं को दूर करने के लिए एक मार्गदर्शक प्रकाश के रूप में कार्य करते हैं। ये सिद्धांत हमें सभी चीजों के परस्पर जुड़ाव को पहचानते हुए जीवन को समग्र रूप से देखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। यह दृष्टिकोण आज विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि दुनिया पर्यावरणीय क्षरण, मानसिक स्वास्थ्य संकट और नैतिक मूल्यों के क्षरण से जूझ रही है। आई. के. एस. के ज्ञान को लागू करके, हम ऐसे समाधान विकसित कर सकते हैं जो न केवल प्रभावी हैं बल्कि टिकाऊ और दयालु भी हैं।

उदाहरण के लिए, धर्म की अवधारणा नैतिक जीवन और जिम्मेदार कार्रवाई के लिए एक ढांचा प्रदान करती है। अक्सर भौतिकवाद और अल्पकालिक लाभों से संचालित दुनिया में, धर्म हमें दूसरों और ग्रह के प्रति हमारे कर्तव्यों की याद दिलाता है। इसी तरह, कर्म का कानून

जवाबदेही की भावना पैदा करता है, व्यक्तियों को ईमानदारी और सावधानी के साथ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है। पुरोहित, या जीवन के चार लक्ष्य–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–मानव आकांक्षाओं के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि भौतिक और भावनात्मक कार्य नैतिक और आध्यात्मिक विकास के साथ संरेखित हों।

आई.के.एस. को अपने जीवन में फिर से खोजना और एकीकृत करना केवल सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के बारे में नहीं है। यह हमारे, समाज और ब्रह्मांड के साथ एक गहरे संबंध को बढ़ावा देने के बारे में है। आई.के.एस. की अंतः विषय प्रकृति शिक्षा, शासन, स्वास्थ्य और पर्यावरण संरक्षण जैसे क्षेत्रों में नवीन दृष्टिकोण को प्रेरित करती है। इसके कालातीत ज्ञान में प्राचीन परंपराओं और आधुनिक जरूरतों के बीच की खाई को पाटने की क्षमता है, जिससे एक सामंजस्यपूर्ण और टिकाऊ भविष्य का निर्माण होता है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली को अपनाते हुए, हम उस विरासत का सम्मान करते हैं जिसने सहस्राब्दियों से मानव सभ्यता को आकार दिया है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि हम एक ऐसी दुनिया के निर्माण के लिए इसकी अंतर्दृष्टि को लागू करके मानवता के सामूहिक विकास में योगदान करते हैं जो संतुलन, करुणा और परस्पर जुड़ाव को महत्व देता है–एक ऐसी दुनिया जहां प्रगति को न केवल भौतिक संदर्भ में बल्कि सभी के कल्याण में भी मापा जाता है।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची</u> :–

1. राधाकृष्णन, एस. (1948). भारतीय दर्शन (टवसनउमे 1–2). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। यह व्यापक कार्य भारतीय ज्ञान प्रणाली के दार्शनिक आधार पर चर्चा करता है, जिसमें धर्म, कर्म और चार पुरोहित शामिल हैं।
2. दासगुप्ता, एस. (1922). भारतीय दर्शन का इतिहास। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
एक उत्कृष्ट पाठ जो वैदिक साहित्य और उपनिषदिक शिक्षाओं को छूते हुए भारतीय दार्शनिक विचार के विकास की पड़ताल करता है।
3. हिरियन्ना, एम. (1932). भारतीय दर्शन के मूल तत्व। एलन और अनविन।
यह पुस्तक आई. के. एस. के संदर्भ में भारतीय दर्शन में धर्म और मोक्ष जैसी प्रमुख अवधारणाओं का एक सुलभ अवलोकन प्रदान करती है।
4. पतंजलि। (ज्तंदेसंजमक इल ूउप ैजबीपकंदंदकं, 1978). पतंजलि के योग सूत्र। एकीकृत योग प्रकाशन। योग दर्शन में एक मूलभूत पाठ, जो भारतीय ज्ञान प्रणाली के लिए केंद्रीय समग्र प्रथाओं में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।
5. कांगले, आर. पी. (1965). कौटिल्य अर्थशास्त्र। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
यह कार्य शासन, अर्थशास्त्र और सामाजिक नैतिकता पर प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण की पड़ताल करता है, जो आई. के. एस. के व्यावहारिक पक्ष को प्रदर्शित करता है।
6. सुश्रुत। (ज्तंदेसंजमक इल ज्ञ.त. ैतपांदजीं डनतजील, 2005). सुश्रुत संहिता। चौखम्बा ओरिएंटलिया।

आयुर्वेद पर एक मौलिक पाठ, जिसमें चिकित्सा और स्वास्थ्य में आई. के. एस. के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

7. भगवद गीता (ज्तंदेसंजमक इल मदंजी ैंतंद, 1985). यह ग्रंथ धर्म, कर्म और मुक्ति की खोज, आई. के. एस. के प्रमुख तत्वों पर एक दार्शनिक प्रवचन प्रदान करता है।
8. कैपरा, एफ. (1991). ताओ ऑफ फिजिक्सः एन एक्सप्लोरेशन ऑफ पैरेलल्स बिटवीन मॉडर्न फिजिक्स एंड ईस्टर्न मिस्टिसिज्म। शंभाला प्रकाशन।

सोशल मिडिया चुनौतियाँ व प्रभाव

गरिमा सिंह
(रिसर्च स्कॉलर)

समाजशास्त्र विभाग,
बयालसी पी. जी. कॉलेज, जलालपुर, जौनपुर
सम्बद्ध – वीर बहादूर सिंह पूर्वांचल यूनिवर्सिटी, जौनपुर

सारांश :–

मीडिया संचार का वह माध्यम है जिसकी लोगों तक व्यापक पहुँच व प्रभाव है। लोकतांत्रिक देशों में मीडिया को ''चौथा स्तम्भ'' माना जाता है। संचार साधनों के विकास की वजह से ग्लोबल विलेज की अवधारणा को बढ़ावा मिला है। सोशल मीडिया शब्द एक कम्प्यूटर आधारित तकनीक को संदर्भित करता है।

सोशल मीडिया ने युवा पीढ़ी को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह से प्रभावित किय है। एक संतुलित जीवन परिवार, समाज संस्कृति और देश के लिए सोशल मीडया के देनों पक्षों पर हमें खुले मन से विचार करना चाहिए।

एक सुपसिद्ध कहावत है ''आवश्यकता आविष्कार की जननी है'' आवश्यकता हर नये आविष्कार और खोज के पीछे मुख्य आधार है। यह मानवीय आवश्यकता थी जिसने पहले व्यक्ति को खाने के लये भोजन खोजने रहने के लिये घर का निर्माण और जंगली जानवरों से बचने के लिये हथियार बनाने का कार्य किया। दुनिया जानती है जब थॉमस एडीसन ने प्रकाश की जरूरत महसूस की तो उन्होंने बल्ब का आविष्कार किया और इस तरह पूरे विश्व में रोशनी प्रदान की। टेलीविजन, रेडियो, मोबाइल, फोन और अन्य कई आविष्कार हुये। संचार के साधनों का विकास हुआ। इससे हमारी जिन्दगी सहज और पूर्ण भी बनी है।

मीडिया एक शक्तिशाली दवा की तरह है। मगर दवा का सही इस्तेमाल किया जाये तो यह बिमारियों को ठीक कर सकती है अगर दवा का दुरूपयोग किया जाये तो यह जहर बन सकती है। सोशल मीडिया का ही प्रभाव है कि जो दुनिया कभी रहस्यमयी लगती। सोशल मीडिया ने उसे वास्तविकता में प्रकट कर दिया। भारत आज सोशल मीडिया के बड़े बाजार के रूप में उभर चुका है।

सोशल मीडिया शब्द एक कम्प्यूटर आधारित तकनीक को संदर्भित करता है जो आभासी नेटवर्क और समुदायों के माध्यम से विचारों और सूचनाओं को साझा करने की सुविधा प्रदान

करता है। सोशल मीडिया इण्टरनेट आधारित है और उपयोगकर्ताओं को व्यक्तिगत जानकारी, दस्तावेज, वीडियो और फोटो जैसी सामग्री का त्वरित इलेक्टानिक संचार प्रदान करता है। उपयोगकर्ता वेब–आधारित साफ्टवेयर या एल्पिकेशन के माध्यम से कम्प्यूटर, टैबलेट या स्मार्टफोन के माध्यम से सोशल मीडिया से जुड़ते हैं।

सबसे लोकप्रिय सोशल मीडिया प्लेटफार्म निम्न है –

फेसबुक :– फेसबुक आज के समय में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध होने वाला प्लेटफार्म है। इस प्लेटफार्म के माध्यम से आसानी के साथ किसी दूसरे इंसान के साथ में कनेक्ट कर सकते हैं और उससे बात कर सकते हैं।

यू–ट्यूब :– यह एक शेयरिंग प्लेटफार्म है। इसकी मदद से किसी भी जानकारी को लोगों के साथ शेयर कर सकते हैं। यू–ट्यूब का इस्तेमाल हम सभी करते हैं और आज के समय में यू–ट्यूब इस हद तक बढ़ गया है कि हम किसी भी चीज की जानकारी यू–ट्यूब के माध्यम से आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

इस्टाग्राम :– इंस्टाग्राम का इस्तेमाल बिजनेस को बढ़ाने और मार्केटिंग के लिये किया जा रहा है। इसके अन्दर हम वीडियो के माध्यम से या फोटो के माध्यम से अपने विचार लोगों के साथ में शेयर कर सकते है।

स्नैपचैट :– यह एक मल्टी मीडिया मैसेजिंग एप है इसके ऊपर आसानी के साथ फोटो और वीडियो को मैसैज की सहायता से कनेक्ट कर सकते है।

ट्विटर :– ट्विटर एक माइक्रो ब्लॉगिंग सोशल मीडिया ऐप है जिसके ऊपर अपने विचारों को लोगों के साथ में शेयर कर सकते हैं।

लिंकडिन :– यह एक सोशल मीडिया ऐप है जिसका आमतौर पर इस्तेमाल जॉब प्रोफेशनल करते है इसके अपर जॉब ढूँढ सकते हैं और लोगों को जॉब भी दे सकते है इस ऐप के उपर बिजनेस से जुड़ा हुआ कोई भी विचार शेयर कर सकते हैं।

पिंटरेस्ट :– पिंटरेस्ट एक फोटो शेयरिंग एप है इसके अन्दर फोटो अपलोड करनी होती है। इसके अन्दर एक पिन पिक्चर ऑप्शन मिलता है इसके अन्दर अलग– अलग कैटगरी होती है। इसके अनुसार फोटो को अपलोड कर सकते है।

व्हाट्सअप :– व्हाट्सअप एक ऐसा ऐप है जिसकी मदद से किसी के साथ में कनेक्ट कर सकते है और वीडियो फोटो शेयर कर सकते है और साथ ही साथ किसी से भी बात कर सकते है। पह एक फ्री ऐप है जिस पर आसानी से मैसेजिंग कर सकते हैं।

सोशल मीडिया से संबंधित मुद्दे :–

निजता का अधिकार :– सोशल मीडिया विनियमन के कई समर्थको का मानना है कि देश की अखण्डता और गरिमा को बनाये रखने के लिए विनियमन आवश्यक है। क्योंकि बीते कुछ वर्षों में सोशल मीडिया पर हेट स्पीच, फेक न्यूज और राष्ट्रविरोधी गतिविधियाँ तेजी से बढ़ रही है।

दूसरी ओर इस कदम के विरोधियों का मानना है कि यदि सोशल मीडिया का अधिक विनियमन किया जाता है तो इससे नागरिकों की निजता का अधिकार प्रभावित होगा जो कि संविधान के अनुकूल नहीं है।

लोकतांत्रिक देशों में मीडिया को ''चौथा स्तम्भ'' माना जाता है। सोशल मीडिया इण्टरनेट आधारित है और उपयोगकर्ताओं को व्यक्तिगत जानकारी, दस्तावेज, वीडियो और फोटो जैसी सामग्री का त्वरित इलेक्टानिक संचार प्रदान करता है।

उपयोगकर्ता वेब–आधारित साफ्टवेयर या एल्पिकेशन के माध्यम से कम्प्यूटर, टैबलेट या स्मार्टफोन के माध्यम से सोशल मीडिया से जुड़ते हैं। सोशल मीडिया पर युवा पीढ़ी के हजारों दोस्त है और उनसे आभासी सम्बन्ध है लेकिन वास्तविक रूप से शायद कोई नहीं।

इण्टरनेट शटडाउन :–

हाल ही में सोशल मीडिया के माध्यम से फैलने वाली अफवाहों और फेक न्यूज से प्रेरित हिसा एवं अराजकता को नियंत्रित करने के लिये सरकार द्वारा कई बार इण्टरनेट सेवा को बंद किया गया।

यह मांग उठती रही है कि इण्टरनेट को मानवाधिकार माना जाए और सरकारें चाहे
किसी भी कारण से मजबूर क्यों न हो इण्टरनेट सेवाओं पर पाबंदी न लगा सके।

सरकारों का कहना है कि इण्टरनेट सोशल मीडिया के जरिये संवेदनशील सूचनाएँ बाहर न भेजी जा सके, गलत संदेशो खबरों, तथ्यों व फर्जी तस्वीरों का प्रचार–प्रसार न हो, इसके लिये हालात संभालने तक इण्टरनेट सेवाओं को बाधित करना ही एकमात्र रास्ता बचता है।

अभिव्यक्ति स्वतंत्रता :–

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 19(1)(ए) भाषण और अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी देता है। यह भारत के सभी नागरिकों के लिये एक मौलिक अधिकार है।

संविधान के इस अनुच्छेद के आधार पर कुछ लोगों द्वारा सोशल मीडिया पर सरकार के नियंत्रण इण्टरनेट शटडाउन और अत्यधिक विनियमन का विरोध किया जाता है हालांकि यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी को भी ''पूर्ण'' स्वतंत्रता नहीं देती।

युवाओं पर सोशल मीडिया के सकारात्मक प्रभाव :–

सम्पर्क और सम्बन्ध :–

फेसबुक और ट्विटर जैसे सोशल मीडिया मंच किशोरों और युवा वयस्कों को अपनेपन और स्वीकृति की एक भावना प्रदान करते है। कोरोना महामारी के दौरान इसका चौतरफा प्रभाव

स्पष्ट तौर पर नजर आया जब इसने ''आइसोलेशन'' में रह रहे लोगों और प्रियजनों को आपस में जोड़े रखा।

सकारात्मक प्रेरणा :– सोशल नेटवर्क सहकर्मी प्रेरणा का सृजन कर सकते है और युवाओं को नई एवं स्वस्थ आदते विकसित करने के लिए प्रेरित कर सकते है। युवा ऑनलाइन माध्यम से अपने लिये सकारात्मक रोल मॉडल भी ढूंढ सकते है।

पहचान निर्माण :– युवावस्था ऐसा समय होता है जब युवा अपनी पहचान को सुस्पष्ट करने और समाज में अपना स्थान पाने का प्रयास कर रहे होते है। सोशल मीडिया किशोरों को अपनी विशिष्ट पहचान विकास हेतु एक मंच प्रदान करता है। युवा सोशल मीडिया पर अपनी राय व्यक्त करते हैं। वे बेहतर प्रगति का अनुभव करते हैं।

अनुसंधान :– मानसिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ और शोधकर्ता सोशल मीडिया का उपयोग प्रायः डेटा एकत्र करने के लिये करते है जो इनसे अनुसंधान में योगदान करता है। इसके अलावा थेरेपिस्ट स्वं अन्य पेशेवर लोग ऑनलाइन समुदायों के अंदर परस्पर नेटवर्क स्थापित कर सकते हैं, जिससे उनके ज्ञान और पहुंच का विस्तार हो सकता है।

अभिव्यक्ति प्रदान करना :– सोशल मीडिया ने युवाओं को एक दूसरे के पक्ष में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का अवसर दिया है। सशक्त भावों, विचारों या उर्जा की अभिव्यक्ति और सदुपयोग से यह बेहद सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।

गेटवे टू टैलेंट :– सोशल मीडिया आउटलेट छात्रों को अपनी रचनात्मकता और विचारों को तटस्थ दर्शकों के साथ साझा करने और ईमानदार प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिये एक मंच प्रदान करते है। प्राप्त प्रतिक्रिया उनके लिये अपने कौशल को बेहतर ढंग से आकार देने की मार्गदर्शक बन सकती है। यदि वे उस कौशल को पेशेवर रूप से आगे बढ़ाना चाहते हैं।

रचनात्मकता को बढ़ावा :–

सोशल मीडिया युवाओं को उनके आत्मविश्वास और रचनात्मकता को बढ़ाने में मदद कर सकता है। यह युवाओं को विचारों की और संभावनाओं की दुनिया से जोड़ता है। ये मंच छात्रों को अपने मित्रों और अपने सामान्य दर्शकों के साथ जुड़ने के मामले में अपने रचनात्मक कौशल का प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

डिजिटल सक्रियता और सामाजिक परिवर्तन :–

सोशल मीडिया समुदाय के अन्दर प्रभाव उत्पन्न करने का माध्यम बन सकता है। यह उन्हे न केवल अपने समुदाय के अन्दर बल्कि पूरे विश्व में आवश्यक विषयों से अवगत कराता है।

सन्तुष्टि प्राप्त करना :–

आम आदमी सोशल मीडिया का उपयोग करके खुद को संतुष्ट पा रहा है। रेलवे टिकटिंग, लाइफ इंश्योरेंस ई–कॉमर्स, ई–टिकटिंग और इ–गवर्नेंस जैसी सुलभता सोशल मीडिया का उपहार है। मीडिया के सकारात्मक पक्ष की बात करे तो पाते हैं कि सेहत शिक्षा, रोजगार बाजार व्यापार और खेती किसानों जैसे कार्यों में भी मीडिया की पहुंच गहरी हो गई है। बेहतर सेहत के देशी–विदेशी नुस्खे, घातक बिमारियों के सहज इलाज और गुमशुदा की खोज वर–वधू खोजने से लेकर भविष्यफल और वास्तुशास्त्र की जानकारी सोशल मीडिया के जरिये जितन सुलभता से आज हासिल हो रही है वैसी कभी नहीं हुई यदि हमें जीवन परिवार और समाज की बेहतरी के लिये सोशल मीडिया का उपयोग कर तो अनेक लाभ घर बैठे भी प्राप्त कर सकते हैं। कृषि, बागवानी उद्योग धन्धे व्यापार बेहतर शिक्षा, बेहतर सेहत, सुगम यात्रा कानून की जानकारी अनेक समस्याओं के निदान आंधी तूफान बाढ़ बारिश अकाल और पूरी दुनिया के एक–एक कण और पल की स्थिति की जानकारी आज सोशल मीडिया के जरिये उपलब्ध कराई जाती है।

पुस्तकों का स्थान धीरे–धीरे वेबसाइट्स ने ले लिया है। अनेक एप्स मुफ्त में नेट पर उपलब्ध इन्हें डाउनलोड करके इनका बेहतर इस्तेमाल किया जा सकता है।

युवाओं पर सोशल मीडिया का नकारात्मक प्रभाव :–

मानव सामाजिक प्राणी से वर्चुअल प्राणी बनता जा रहा है :–

प्रत्येक हाथ में सस्ते मोबाइल फोन की उपलब्धता से आज सामाजिक मीडिया उसके जीवन में इतना पैठ कर चुका है कि उसे अपने आस–पास के वातावरण की चीजें दिखाई ही नहीं देती। भारत को लगभग दो–तिहाई से अधिक आबादी आज अपना अधिकतर समय ऑनलाइन सामाजिक नेटवर्किंग साईट्स जैसे फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, यू–ट्यूब, व्हाट्सअप पर व्यतीत कर रही है। आज लाईव चैट, अपडेट्स एवं वीडियो शेयरिंग लोकप्रिय होते जा रहे हैं। इन प्लेटफार्म पर वर्चुअल सम्बन्ध मिनटों में और अनेक व्यक्तियों के साथ स्थापित हो जाते हैं। इस तरह से बने सम्बन्धों में कोई गहराई, भावनात्मक जुड़ाव, प्रत्यक्षता नहीं होती।

आज वर्चुअल संसार में युवा पीढ़ी इस प्रकार के सम्बन्धों का निर्माण कर रही है जिसमें वह उलझती जा रही है। लाईक, डिसलाईक, कमेंट के अधिक से अधिक नम्बरों को प्राप्त करने के इस चक्कर में भीतर ही भीतर युवा पीढ़ी शून्य के नम्बर से भरती जा रही है। मानव सामाजिक प्राणी से वर्चुअल प्राणी बनता जा रहा हैं।

नैतिकता का पतन :–

सोशल मीडिया के माध्यम से अश्लील, खुली दोस्ती और अनजानी दोस्ती दोस्ती का सबसे बुरा असर युवाओं के मन और शरीर पर देखा जा रहा है। हिंसा, ठगी, क्रूरता और भ्रष्टाचार के नये चेहरे भी आये इसने नई पीढ़ी को बहुत संकुचित और स्वार्थी बना दिया है।

भारतीयता के उच्चतम भाव का लुप्त होना :–

सोशल मीडिया ने नई पीढ़ी को हर स्तर पर प्रभावित किया है। दिन ही नहीं रात भी सोशल मीडया के नाम हो गई है। भारतीय संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य, भाषा, विज्ञान और आध्यात्म सभी कुछ विदेशी प्रभाव के कारण विकृत होते जा रहे है। इस तरह से मिलावटी जीवनशैली बनती जा रही है जो न तो भारतीय रह पा रही है और न तो पूर्णतः विदेशी ही। इससे भारतीयता का उच्चतम भाव कहीं लुप्त हो गया है।

इण्टरनेट की लत :–

युवाओं में अनियंत्रित सोशल मीडिया के उपयोग से इंटरनेट की लत लग जाती है। बच्चे जितनाआधिक समय सोशल मीडिया पर बिताते है वे उतनी ही नई कहानियों और विचारों के सम्पर्क में आ जाते है जो वे तलाशना चाहते है। इंटरनेट के माध्यम से तरह–तरह के काले धंधे प्रारम्भ हो रहे है। इसमें नशीली दवाओं के सौदे, माफिया ऑपरेशन्स देह व्यापार, अश्लीलता अवैध हथियारी को सौदागरी, जासूसी, अश्लील साहित्य, जुआ, जालसाजी आतंकवादी तोड्फोड ऑनलाइन धोखाधड़ी इत्यादि अपराध हो रहे है।

मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँ :– कई अध्ययनों में सोशल मीडिया के उपयोग और अवसाद के बीच घनिष्ठ संबध पाया गया है। एक अध्ययन के अनुसार मध्यम से गम्भीर अवसाद लक्षण वाले युवाओं में सोशल मीडिया का उपयोग करने की संभावना लगभग दुगनी थी, सोशल मीडिया पर किशोर अपना अधिकांश समय अपने साथियों के जीवन और तस्वीरों को देखने में बिताते हैं। यह एक निरन्तर तुलनात्मकता की ओर ले जाता है। सोशल मीडिया के अत्यधिक उपयोग के परिणामस्वरूप स्वास्थ्यप्रद वास्तविक दुनिया की गतिविधियों पर कम समय व्यतीत किया जाता है।

आत्मीयता का संकट :–

सोशल मीडिया पर उस युवा पीढ़ी के हजारों दोस्त है और उनसे आभासी सम्बन्ध है लेकिन वास्तविक रूप से शायद कोई नहीं। तभी तो मन की कहने–सुनने वालों की कमी के कारण आत्महत्या की दर में बढ़ोत्तरी दिखाई देती है। तकनीक के विकास के साथ–साथ आज सच्चे दोस्त कहीं खो गये हैं। युवा पीढ़ी की स्मार्ट गैजेट्स के साथ स्मार्ट बनने की यह लत जीवन के बेहद निजी पलों में भी नहीं छूटती और रिश्तों को गहराई से नहीं पनपने देती।एक कमरे में बैठे हुए पति–पत्नी अपने–अपने स्मार्टफोन से इतना खो जाते हैं कि एक दूसरे के विचारों को जान ही नहीं पाते। आमने–सामने बैठकर की गई बातचीत, हंसी मजाक, मान–मनुहार सोशल मीडिया के विभिन्न प्लेटफार्म के लाईक और कमेन्ट में खोती जा रही है।

दैनिक गतिविधि में कमी :–

सोशल मीडिया का बहुत ज्यादा उपयोग करने वाले किशोर उन गतिविधियों पर पर्याप्त समय नहीं बिताते है जो निश्चित रूप से मानसिक क्षमताओं, कौशल, शारीरिक क्षमताओं को

बढ़ाते हैं जो लोग रोजाना व्यायाम करते हैं उनका शरीर एडोर्फिन छोड़ता है। जो कि हमारे मस्तिष्क को सकारात्मक रहने और डिप्रेशन को कम करने का संकेत देता है।

एकाग्रता (ध्यान) में कमी :–

आज युवाओं पर सोशल मीडिया के नकारात्मक प्रभाव को आसानी से देखे जा सकते हैं। विभिन्न कार्यों जैसे कि स्कूलवर्क, क्लासवर्क या होमवर्क किसी भी महत्वपूर्ण चीज से निपटने के लिये अधिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है। लेकिन आज युवाओं को सोशल मीडिया का उपयोग ध्यान पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है और अध्ययन सीखने और प्रदर्शन में रूकावट पैदा करता है।

भौतिकवाद को बढ़ावा :–

दर्शन परम्परा में भौतिकवादी दर्शन उस दर्शन को कहा जाता है जो विश्व का मूलभूत तत्व जड़ को मानता है। इस अर्थ में चार्वाक ही भौतिकवादी दर्शन है क्योंकि वह जड़ के अतिरिक्त किसी अन्य चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। कुछ लोगों का मत है कि चार्वाक चर्व से बना है जिसका अर्थ है भोजन करना। अतः 'खाओ पियो मौज करो' भौतिकवाद का सबसे बुरा प्रभाव क्या है कि यह आत्म सम्मान को कम करता है। एक भौतिकवादी व्यक्ति सांसारिक जीवन की विलासिता को भोगने के लिये किसी भी हद तक जा सकता है। जैसे–जैसे सोशल मीडिया का उपयोग बढ़ता गया है भौतिकवाद अधिक बढ़ता गया। सोशल मीडिया फिल्मी सितारों, खिलाड़ियों, धनी लोगों जैसी मशहूर हस्तियों को ग्लेमराइज करके भौतिकवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देता है।

आज अधिकांश लोग अधिक से अधिक धन संचय करना चाहते हैं। वे पैसे, बैंक बैलेंस, लग्जरी कारो और ऊँचे और विशाल घरों के पीछे पड़े हैं। इस दौड़ में उन्हें धर्म और मानवता के सभी मानकों को तोड़ने में शर्म नहीं आती क्योंकि लालच और स्वार्थ को बढ़ावा मिलता है, परोपकार को नहीं। भौतिकवादी व्यक्ति कभी भी दिल के मूल में खुशी का अनुभव नहीं करता है क्योंकि वह हमेशा अभावग्रस्त रहता है जीवन से कम संतुष्ट होता है और उच्च स्तर की चिंता, अवसाद और मादक दव्यों के सेवन का शिकार होता है।

निष्कर्ष :–

सोशल मीडिया आजकल दुनिया को देखने का हमारा नजरिया बदल रहा है। चाहे वह संचार के मामले में हो या सामाजिक सम्पर्क के मामले में इसने युवा पीढ़ी को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह से प्रभावित किया है। यदि सोशल मीडिया के नकारात्मक पक्ष को हम नजरअंदाज करते रहे तो इसके दूरगामी नकारात्मक असर से हम बच नहीं सकते। इसलिए सोशल मीडिया के अच्छे बुरे इस्तेमाल पर जरूर गौर करना चाहिए। मानव मूल्यों के खत्म होने और इंसान का वस्तु या यंत्र के रूप में तब्दील होने का खतरा निकट दिखाई दे रहा है। एक

संतुलित जीवन, परिवार, समाज, संस्कृति और देश के लिये सोशल मीडिया के दोनों पक्षों पर हमे खुले मन से विचार करना चाहिए। यदि कानून बनाना पड़े तो भी कानून बनाकर गिरते जीवन मूल्यों को रोकने की कोशिश भी करनी होगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :–

1. प्रतियोगिता दर्पण नवम्बर 2017, उपरोक्त पृ0 102
2. www.drishtiias.com ''सोशल मीडिया और युवा''
3. badisoch.in सबसे लोकप्रिय सोशल मीडिया प्लेटफार्म, दिनांक 19 फरवरी 2023
4. सिविल सर्विसेज नोएडा (यू0पी0) क्रॉनिकल अवलोकन ''मीडिया व समाज भूमिका, चुनौतियां तथा प्रभाव'' सितम्बर 2019, पृ0 169
5. प्रो0 एम0एल0 गुप्ता, डॉ0 डी0डी0 शर्मा, ''समकालीन भारत में सामाजिक समस्याएं'' साहित्य भवन आगरा, 2021, पृ0 251
6. प्रतियोगिता दर्पण आगरा, आलेख अखिलेश आयेन्दु ''मीडिया एवं सोशल मीडिया की सकारात्मक एवं नकारात्मक दिशा'' नवम्बर 2017, पृ0 102
7. www.investopedia.com ''सोशल मीडिया'' परिभाषा प्रभाव दिनांक 31 अगस्त 2021

रायबरेली जनपद में वृद्वोजनों की सामाजिक और मनो सामाजिक समस्यायें : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

रामा देवी यादव
(रिसर्च स्कॉलर)

समाजशास्त्र विभाग,
बयालसी पी. जी. कॉलेज, जलालपुर, जौनपुर
सम्बद्ध – वीर बहादूर सिंह पूर्वांचल यूनिवर्सिटी, जौनपुर

शोध सारांशः–

प्रस्तुत अध्ययन में सामाजिक और मनो सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। वृद्वावस्था को जीवन का अंतिम पड़ाव माना जाता है। फलस्वरूप शरीर कमजोर होने से अनेक समस्यायें घेर लेती है। फलतः वे दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रहते है। समय के अनुसार समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन होने लगे है। नयी पीढ़ी के लोग अपने जीवन में बुजुर्गो के हस्तक्षेप को उपयुक्त नही समझते है। जिससे समाज में वृद्वजनों के अनेक अनुभव और तजुर्बो की उपेक्षा की जाती है। बुजुर्गो की स्थिति के सम्बन्ध में भारत पर विश्व रिपोर्ट ने वृद्वों के स्वास्थ्य कार्य और आराम की कमी जैसे मुद्दों पर अपनी चिन्ता व्यक्त की है। एलडर एव्यूज इन इण्डिया रिपोर्ट में बुजुर्गो की स्थिति पर चर्चा करते हुये स्पष्ट किया है कि अपमान, उपेक्षा, दुर्व्यहार और प्रताड़ना की वजह से अधिकतर वरिष्ठ नागरिक बुढापे को एक बीमारी मानने लगे है। जैसा कि भारतीय समाज में सर्वविदित है कि बुजुर्गो को अधिक सम्मान प्राप्त था उनके अनुभवों को प्राथमिकता दी जाती थी नये लोग उनसे विचार विमर्श करके बुजुर्गो के अनुभवों का लाभ उठाते थे। परन्तु वर्तमान समय में स्थिति आश्चर्य जनक रूप से बदल गयी है। नयी पीढी बुजुर्गो को कोई महत्व नही देती है बल्कि घर में तो बुजुर्गो का बड़ा अपमान होता है। इससे बुजुर्गो की मानसिक स्थिति पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है और कई बुजुर्गो तो यातना का शिकार भी हो जाते है।

मुख्य शब्दः–

सामाजिक, मनो सामाजिक, वृद्वावस्था, अपमान, दुर्व्यहार, प्रताड़ना, अनुभव, सम्मान, मानसिक स्थिति , मानसिक यातना आदि।

प्रस्तावनाः–

प्रस्तुत अध्ययन सामाजिक और मनो सामाजिक समस्या से सम्बन्धित है। व्यक्ति के जीवन में चार अवस्थाओं में अन्तिम पड़ाव है। इस अवस्था में पहुॅचते–2 मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक रूप से बिल्कुल कमजोर पड़ जाते है। आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों की (वृद्वों) की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। व्यक्तिवाद के उत्तरोंतर वृद्वि के कारण जहॉ संयुक्त परिवार टूट रहे है। वही एकल परिवारों की संख्या में बढोत्तरी हो रही है। व्यक्ति में निहित स्वार्थ बढ़ते जा रहे है। पारिवारिक मूल्यों में ह्रास हो रहा है सेवा व सहयोग की भावना मिटती जा रही है। जिसमें वृद्वों की समुचित देखभाल नही हो पाती है, तथापित वृद्वों के जीवन में अनेक कठिनाईयां आ रही है।

समय के अनुसार समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन होने लगे है। नयी पीढ़ी के लोग अपने जीवन में बुजुर्गो के हस्तक्षेप को उपयुक्त नही समझते है। जिससे समाज में वृद्वजनों के अनेक अनुभव और तजुर्बो की उपेक्षा की जाती है।

आजकल युवाओं का वृद्वों से सामांजस्य नही बन पाता है। समय और संचार के साधनों का अभाव है। विगत कुछ वर्षो से परिवार की संरचना एवं कार्यो में परिवर्तन हुआ है। भारत में वृद्वावस्था एक अभिशाप बन गया है। आज नगरों एवं महानगरों में बुढ़ापा एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर चुका है।

वृद्वावस्था में एक तो शरीर कमजोर हो जाता है। इस अवस्था में कई रोग शरीर को जकड़ने लगते है। जैसे–गठिया, मधुमेह, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप। इस अवस्था में वृद्वों की समुचित देखभाल होनी चाहिये परन्तु परिवार के लोग वृद्वों की कोई सेवा नही करते है। यहॉ तक की उन्हें उचित पौष्टिक आहार तक नही मिलता है। वृद्वों के स्वस्थ्य रहने के लिये पौष्टिक भोजन का आभाव होता है। उन्हें एकाकी रहने के लिये मजबूर कर दिया जाता है।

वर्तमान आद्यौगिक समाज में संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है। परम्पराएं विचारधारा मूल्य आदि में परिवर्तन हो रहा है। वर्तमान औद्यौगिक एवं नगरीय जीवन की जीवन शैली परिवर्तन हो रहा है। उच्च आकांक्षा, उच्च जीवन शैली में परेशान लोग अपना जीवन स्तर उच्च उठाना चाहते है। अर्थ प्रधान समाज में वृद्वों की सेवा कोई नही करना चाहता या समय का आभाव रहता है। वृद्वा अवस्था में शारीरिक शिथिलता या रोगों के कारण वृद्वों को अपने पारिवारिक सदस्यों के सहारे की आवश्यकता होती है। परन्तु उन्हें निराशा ही मिलती है। वृद्वावस्था में अनेक व्यक्तिगत या सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। सबसे बड़ी समस्या तो परिवार के सदस्यों के साथ समायोजन की है। आधुनिक आद्यौगिक समाज में जीवन के प्रतिमान बदल गये है। लोग व्यक्तिगत जीवन अधिक पसन्द करते है। ऐसे में वृद्वों के लिये जीवन जीना कठिन हो रहा है।

सामाजिक परिस्थियों में हो रहे परिवर्तन के कारण वर्तमान समय में वृद्वों की स्थिति चिन्तनीय हो गयी है। औद्यौगिक कारण नगरीयकरण सामाजिक विचलन, संचार माध्यम में आये परिवर्तन एवं व्यक्तिवाद की बढ़ती प्रवृत्ति तेज हो गयी है। समाज की विचारधारा बदलने में भी

इन कारकों का विशेष योगदान रहा है। इन कारकों ने सोचने के तरीके में बदलाव किया है। व्यक्तियों की स्थिति, उनकी भूमिका और संवेदनात्मक सम्बन्धों को भी बदल दिया है। इन कारणों से वृद्वों की सुरक्षा में बाधा में पहुॅचाया है। आजकल युवाओं का वृद्वों से सामांजस्य नही बन पाता है। समय और संचार के साधनों का अभाव है। विगत कुछ वर्षो से परिवार की संरचना एवं कार्यो में परिवर्तन हुआ है। भारत में वृद्वावस्था एक अभिशाप बन गया है। आज नगरों एवं महानगरों में बुढ़ापा एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर चुका है।

भारतीय संस्कृति में बूढ़ा होना एक आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। परम्परा से वृद्वों की परिवार में प्रतिष्ठा रही है, लेकिन संयुक्त परिवार का प्रभाव जैसे–जैसे कमजोर होता जा रहा है। वैसे–वैसे वृद्वजन उपेक्षा के शिकार हो रहे है। इसका बड़ा कारण पीढियों की सोच में आया बदलाव है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण बढती महॅगाई है। जिससे संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में परिवर्तित हो रहे है।

शोध प्रविधिः–

प्रस्तुत अध्ययन प्राथमिक आकड़ों पर आधारित है। प्राथमिक आंकड़ों का संकलन में साक्षात्कार, अवलोकन का प्रयोग किया गया है। अध्ययन विधि में वर्णनात्मक प्रकार की विधि प्रयोग किया गया है।

अध्ययन के उद्वेश्यः–

1. समाज में वृद्वोजनों की सामाजिक, मनो सामाजिक आर्थिक एवं पारिवारिक समस्याओं का अध्ययन करना।
2. वृद्वों के दैनिक क्रिया कलापों का अध्ययन करना।
3. युवा पीढ़ी का समाज के वरिष्ठ नागरिकों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन करना।
4. नयी एवं पुरानी पीढ़ी के मध्य विचारों के अन्तर का अध्ययन करना।
5. वृद्वों के स्वास्थ्य में आये बदलावों का एवं उनके द्वारा होने वाली शारीरिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण की अध्ययन करना।
6. परिवार के सदस्यों का बुजुर्गो के प्रति व्यवहार का अध्ययन करना।

अध्यय क्षेत्रः–

प्रस्तुत शोध पत्र रायबरेली जनपद के वृद्वजनों पर आधारित है। रायबरेली अक्षांश 25° 49'' उत्तर और 26° 36'' उत्तरी और 100° देशान्तर 41° पूर्व 81° 34'' पूर्व के बीच स्थित है। रायबरेली जनपद उत्तर प्रदेश में स्थित है, जो उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के दक्षिण में प्रतापगढ़ के पूर्व में अमौसी एवं पश्चिम में उन्नाव एवं फतेहपुर से अपनी सीमा निर्धारित करता है। निर्वाचन क्षेत्र में संसदीय निर्वाचन श्रीमती इंदिरा गांधी, श्रीमती सोनिया गांधी का संसदीय निर्वाचन क्षेत्र रहा है।

विश्लेषण एवं व्याख्याः–

समाज में वृद्वों के सामाजिक एवं मनो सामाजिक समस्याओं के कारण वृद्वों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वृद्वों का परिवार एवं समाज में उचित सम्मान प्राप्त नही होता है उन्हें अनेक प्रकार के मनोविकार उत्पन्न होते है। इसका अनेक प्रकार के प्रश्न पूछकर कारण जानने का प्रयास किया गया।

तालिका– 1:1

वर्तमान समय में वृद्वजनों के सम्मान में कमी आने के आधार पर :–(% कोष्ठ में)

क्रम संख्या	व्यसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ संख्या प्रतिशत	नही संख्या प्रतिशत	
1	सेवानिष्ठा (पु0)	70 (27)	56 (161)	126 (36)
2	महिलाओं	49 (14)	35 (10)	84 (104)
3	श्रमिक (पु0)	98 (28)	42 (12)	140 (48)
	कुल	217	133 (38)	350 (100)

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से विदित होता है कि वर्तमान में वृद्वों के सम्मान में पर्याप्त कमी आयी है। उत्तरदाताओं से प्रश्न पूछने पर बताया गया कि सेवानिवृत्त उत्तरदाताओं में 70 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि वर्तमान समय में वृद्वजनों के सम्मान में कमी आयी है। वही घरेलू महिलाओं ने इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने पर बताया कि वृद्व महिलाओं के सम्मान में पर्याप्त कमी आयी है। घर में बहुओं एवं पोते–पोतियॉ सम्मान नही देते है। उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। उत्तरदाताओं में कुछ श्रमिक पुरूष एवं महिलाएं भी शामिल है। उनके सम्मान में कही अधिक कमी आयी है। वही उक्त संदर्भ में 133 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि सम्मान में कोई कमी नही आयी है। परन्तु वर्तमान समय में वृद्वजनों के मान सम्मान में पर्याप्त गिरावट आयी है। युवा वर्ग की प्रधानता हो गयी है।

तालिका– 1:2

अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहने के आधार पर– (% कोष्ठ में)

क0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
		संख्या प्रतिशत	संख्या प्रतिशत	
1	सेवानिवृत्त	70 (20)	56 (16)	126 (36)
2	कृषक	56 (16)	28 (08)	84 (24)

3	श्रमिक	70 (20)	70 (20)	140 (40)
4	कुल	146 (56)	154 (44)	350 (100)

सक्षात्कार के दौरान अनुसूची के तहत उत्तरदाताओं से यह सवाल पूछा गया कि आप अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहते है। सम्मिलित उत्तरदाताओं में से 56 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने जबाब दिया कि वे स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहते है वही 44 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्पष्ट किया कि वे स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नही रहते है। श्रमिक उत्तरदाताओं में से 20 प्रतिशत कृषक उत्तरदाताओं में से 16 प्रतिशत श्रमिक उत्तरदाताओं में से 20 प्रतिशत कृषक उत्तरदाताओं में से 08 प्रतिशत तथा सेवानिवृत्त उत्तरदाताओं में से 16 प्रतिशत अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नही रह पाते है।

तालिका– 1:3

किसी बीमारी से ग्रसित होने के आधार पर :–(% कोष्ठ में)

क0सं0	बीमारी का नाम	उत्तरदाताओं की संख्या		कुल
		वृद्व पुरूष	वृद्व महिला	
1	ऑख सम्बन्धी	28 (08)	14 (04)	42 (11)
2	मधुमेह	14 (04)	21 (06)	35 (10)
3	जोड़ो का दर्द	21 (06)	14 (04)	35 (10)
4	टी0वी0	07 (02)	07 (02)	14 (04)
5	रक्तचाप	07 (02)	07 (02)	14 (04)
6	दम्मा	08 (03)	05 (1)	13 (4)
7	कुल	–	–	153 (44)

तालिका से कुल 153 अर्थात 44 प्रतिशत उत्तरदाता जिस बीमारी से ग्रसित है उनका उल्लेख किया गया है। तालिका उल्लेख से स्पष्ट होता है कि सम्मिलित उत्तरदाताओं में से विभिन्न रोगों से ग्रसित है जो उपरोक्त तालिका में दर्शाया गया है। वृद्वावस्था में ऐसी बीमारी होना स्वाभाविक है। परन्तु अधिकतर बुजुर्गो को उचित देखभाल नही मिल पाती है अध्ययन के दौरान देखा गया कि कुछ उत्तरदाताओं ने बताया कि उनके परिवार के सदस्य उनका उचित देखरेख करते है। जिससे वृद्वों का मानसिक और शारीरिक स्तर पर ठीक है।

तालिका– 1:4

लम्बी बीमारी के कारण वृद्वजनों का परिवारजनों द्वारा उपेक्षित करने के आधार पर :– (% कोष्ठ में)

क0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत	कुल

		हॉ	नही	
		संख्या प्रतिशत	संख्या प्रतिशत	
1	सेवानिवृत्त (पु0)	29 (9)	37 (12)	66 (21)
2	सेवानिवृत्त (म0)	20 (6)	35 (10)	55 (16)
3	श्रमिक (पु0)	56 (16))	28 (08)	84 (24)
4	श्रमिक (म0)	98(28)	42 (12)	140 (40)
5	कुल	203 (58)	147 (42)	350 (100)

तलिका से लम्बी बीमारी के कारण वृद्वजनों से परिवारिक लोग तंग आकर उनकी उपेक्षा करने के संदर्भ में जानकारी प्राप्त होती है। तालिका से अवलोकन से स्पष्ट होता है कि सम्मिलित उत्तरदाताओं है कि 58 प्रतिशत उत्तरदाता यह मानते है कि वृद्वजनों कि लम्बी बीमारी के कारण वृद्वजनों से पारिवारिक सदस्य तंग आकर उनकी उपेक्षा करने लगते है। समय–समय पर डॉक्टर से इलाज कराने नही ले जाते है। उनका समुचित देखभाल नही करते समय–समय खाना–पानी, दवाई आदि नही उपलब्ध कराते, स्नान आदि करवाने में आनाकानी करते है। वही 46 प्रतिशत उत्तरदाता उपर्युक्त विचारों से सहमत नही है। उनका कहना है कि लम्बी बीमारी के कारण वृद्वजनों से लोग तंग आकर उनकी उपेक्षा नही करते बल्कि समुचित देखभाल करते है नियमित रूप से डॉक्टर को दिखाना उनकी दवाई का ध्यान रखना समय पर खाना, पानी आदि उपलब्ध कराना आदि समुचित रूप से करते है।

तालिका– 1:5

अपनी बीमारी का इलाज नियमित रूप से कराने के आधार पर विवरण– ((% कोष्ठ में)

क्र0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
		संख्या प्रतिशत	संख्या प्रतिशत	
1	सेवानिवृत्त (पु0)	91 (26)	35 (10)	126 (36)
2	सेवानिवृत्त (म0)	35 (10)	49 (14)	84 (24)
3	श्रमिक	77 (22)	63 (18)	140 (40)
4	कुल	203	147 (42)	350 (100)

तलिका से उत्तरदाताओं के बीमारी का इलाज नियमित रूप से कराने के संदर्भ में जानकारी प्राप्त होती है। तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि सम्मिलित उत्तरदाताओं में से 58.1 प्रतिशत उत्तरदाता नियमित रूप से अपनी बीमारी का इलाज नियमित रूप से कराते

है वे समय–समय पर डॉक्टर से अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करते रहते है। वही 42 प्रतिशत उत्तरदाता नियमित रूप से अपनी बीमारी का इलाज नही करा पाते इन उत्तरदाताओं के पास अनेक समस्याएं है जैसे–पारिवारिक सदस्यों का उचित सहयोग न होना, इन उत्तरदाताओं के पास धन का अभाव भी होता है। आदि अनेक व्यक्तिगत कारण है जिसके कारण वे नियमित रूप से इलाज नही करा पाते है।

तालिका– 1:6

वृद्वजनों के शक्तिहीन होने पर परिवार में मानसिक प्रताड़ना दिये जाने के आधार पर :–(% कोष्ठ में)

क्र0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
1	सेवानिवृत्त पु0	49 (14)	77 (22)	126 (36)
2	महिलाएं	56 (16)	28 (08)	84 (24)
3	श्रमिक	98 (28)	142 (12)	140 (40)
7	कुल	203 (58)	147 (42)	350 (100)

तालिका 1:6 से वृद्वजनों के शक्तिहीन होने पर परिवार में मानसिक प्रताड़ना दिये जाने के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। तालिका अवलोकन से स्पष्ट होता है कि 58 प्रतिशत उत्तरदाता यह मानते है कि वृद्वजनों के शक्तिहीन होने पर परिवार में मानसिक प्रताड़ना दी जाती है। बात–बात पर वृद्वजनों को परेशान किया जाता है उनका उपहास उड़ाया जाता है। महिलाओं को ज्यादा मात्रा में परेशानी का सामना करना पड़ता है। वही कुछ वृद्वजनों का मानना है कि उनके साथ गलत बर्ताव नही किया जाता। बल्कि उनकी सहायता की जाती है सम्मान किया जाता है। उन्हें मानसिक प्रताड़ना नही दी जाती। वही श्रमिक वर्ग के उत्तरदाताओं ने बताया की उनके साथ किसी प्रकार की कोई सहायता नही दी जाती है।

तालिका– 1:7

पौष्टिक भोजन एवं दवा नियमित रूप से लेने के सम्बन्ध आधार पर विवरण– ((% कोष्ठ में)

क्र0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
		संख्या प्रतिशत	संख्या प्रतिशत	
1	सेवानिवृत्त (पु0)	37 (12)	29 (9)	66 (18)
2	सेवानिवृत्त (म0)	35 (10)	20 (6)	55 (16)
3	श्रमिक (पु0)	35 (10)	49 (14)	84 (24)

4	श्रमिक (म0)	56 (16)	84 (24)	140 (40)
5	कुल	168 (48)	182 (52)	350 (100)

साक्षात्कार के दौरान अनुसूची के तहत उत्तरदाताओं से यह सवाल पूछा गया कि क्या आप पौष्टिक भोजन दूध, फल, पनीर, घी एवं हरी सब्जी आदि अपने भोजन में शामिल करते है ? सम्मिलित उत्तरदाताओं में से 48 प्रतिशत उत्तरदाता ही नियमित रूप से दूध फल आदि ले पाते है। व्यसायिक आधार एवं महिला, पुरूष आधार पर अगर विश्लेषण करें तो सेवानिवृत्त में महिला एवं पुरूष उत्तरदाताओं में से 16 प्रतिशत उत्तरदाता ही पौष्टिक भोजन के साथ दवा नियमित रूप से नही ले पाते है अधिकतर उत्तरदाता पौष्टिक भोजन नही ले पाते क्योंकि इन उत्तरदाताओं के पास की अनेक प्रकार की समस्यायें है इनकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नही है कि उचित पोषण की व्यवस्था हो कुछ उत्तरदाताओं से प्रश्न पूछने पर पता चला कि उनके परिवार के सदस्यों का उचित सहयोग नही प्राप्त है।

तालिका– 1:8

परिवार एवं समाज में स्वयं को उपेक्षित महसूस करने के आधार पर विवरण।

क0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
1	सेवानिवृत्त पु0	70 (20)	56 (16)	126 (36)
2	महिलाएं	42 (12)	42 (12)	84 (24)
3	श्रमिक पु0	39 (11)	30 (8)	69 (19)
4	महिलायें	38 (10)	33 (10)	71 (20)
5	कुल	189 (53)	161 (46)	350 (90)

तालिका 1:8 के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि वृद्वजनों को समाज एवं परिवार में उपेक्षा मिलती है अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं ने बताया कि परिवार एवं समाज में उचित सम्मान नही मिलता है। इसका कारण परिवार और स्वयं की स्थिति है। वही पढ़े लिखे, जागरूक वृद्वों का समाज में उचित सम्मान दिया जाता है।

तालिका– 1:9

परिवार में आने वाले अतिथियों के मिलने से रोके जाने के आधार पर विवरण (कोष्ठ में)

क0सं0	व्यवसायिक आधार	अभिमत		कुल
		हॉ	नही	
1	सेवानिवृत्त पु0	56 (16)	70 (20)	126 (36)
2	महिलाएं	49 (14)	35 (10)	84 (24)

3	श्रमिक पु0	72 (22)	63 (16)	140 (40)
4	कुल	177 (52)	168 (46)	350 (100)

तालिका 1:9 के अवलोकन से प्रतीत होता है कि अतिथियों से मिलने के लिये उन्हें रोका जाता है। अर्थात उन्हें मिलने नही दिया जाता है क्योंकि वे अतिथियों से मिलकर घरवालों की शिकायत न कर दें परन्तु वही कुछ उत्तरदाताओं ने बताया कि अतिथियों से मिलने से रोका नही जाता है बल्कि अतिथि उनसे मिलने आते है और मिलकर जाते है।

निष्कर्ष–

प्रस्तुत अध्याय में वृद्वजनों से सम्बन्धित सामाजिक एवं मनो सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में प्राथमिक तथ्यों का संकलन किया गया जिसमें उत्तरदाताओं से पत्यक्ष उपस्थित होकर प्रश्न पूछने का उत्तर प्राप्त करने का अवसर मिला एवं तत सम्बन्धी अनेक समस्याओं को एवं स्थिति को जानने का मौका भी मिला उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाये तो स्त्रियों एवं पुरूषों की स्थिति भी अलग–अलग है। जहॉ तक पुरूषों की बात करे तो जो सरकारी सेवा में रहे है उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक प्रस्थिति अच्छी है। वे वृद्वजन अपने परिवार एवं समाज के व्यवहार से संतुष्ट दिखे उन्हें उनके परिवार के सदस्यों से उचित देखरेख, सेवा, सम्मान आदि प्राप्त होते है। उनकी बीमारी आदि के दौरान उचित देखभाल, पोषक खादय पदार्थ ठीक प्रकार मिल जाते है। जिससे शारीरिक, मानसिक, स्वास्थ्य अच्छा रहता है उन्हें समाज में भी उचित मान सम्मान प्राप्त होता है। परिवार के छोटे बड़े उनका सम्मान करते है। उनके लम्बे जीवन के अनुभवों के बारे में विचार विमर्श करते है। जिससे इस श्रेणी के पुरूष एवं महिलायें स्वस्थ्य, खुश एवं सम्मानित जीवन प्राप्त कर रहे है। वही अगर बात की जाये घरेलू वृद्व महिलाओं की एवं श्रमिक महिलाओं की स्थिति तो बिल्कुल ही दयनीय है। जहॉ न तो भर पेट खाना न उचित वस्त्र न बीमार होने पर उचित स्वास्थ्य सुविधाएं एवं मान सम्मान की तो बात ही नही है। उन्हें तो परिवार बोझ की तरह समझते है। जैसा कि सर्व विदित है कि वृद्वावस्था में अनेक बीमारियां शरीर में घर बनाने लगती है। तो निर्धन वर्ग के वृद्वों की स्थिति तो दयनीय होना स्वाभाविक है। परिवार की स्थिति अच्छी नही होने से वृद्वों की (महिला एवं पुरूष) दोनों की स्थिति अच्छी नही कही जा सकती। परिवार के सदस्य उन्हें उपेक्षित करते है उनका अपमान करते है। उचित पौष्टिक भोजन भी प्राप्त नही होता है। जिससे वृद्वों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार देखा जाए तो वृद्वावस्था में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। जिसमें शारीरिक, स्वास्थ्य, खानपान अनेक प्रकार की बीमारियां पारिवारिक सदस्यों का बर्ताव आदि कई प्रकार के कारण उत्तरदायी होते है।

सुझावः–

वृद्वावस्था में कई कठिनाईयों का सामना करना स्वाभाविक है परन्तु वृद्वजनों को वर्तमान पीढी अगर थोडा अपना समय एवं देखरेख, सेवा सुश्रवा दे तो वृद्व भी अपना शेष जीवन आराम से काट सकते है।

1. चूँकि वृद्व अपने उम्र के हिसाब से अनेक अनुभव लिये होते है। उनको भी परिवार में उचित महत्व दिया जाये उनका सम्मान किया जाये। उनके अनुभव लम्बे जीवन काल में मिले अनुभव से परिवार एवं समाज के सदस्य लाभ उठा सकते है। एवं प्रगति के मार्ग पर बढ़ जाते है।
2. जिस प्रकार परिवार के सदस्य (बेटे एवं बहुएं, बेटियॉ) अपना और अपने बच्चों की देखरेख करते है। उनका खर्च उठाते है। थोड़ा धन एवं समय वृद्वों पर खर्च करें तो उनका जीवन आसान हो सकता है। आखिर वो भी हमारे मॉ बाप ही है। जिन्होने हमें पाल पोस कर इस काबिल बनाया है कि हम सम्मानित जीवन जी सके तो वृद्व माता पिता भी उचित सम्मान के हकदार है।
3. वृद्वों को भी चाहिये कि जब तक उनका शरीर ठीक है। किसी पर बोझ न बने अपना जीवन यापन करने के लिये कुछ काम करते रहे।
4. सभी व्यक्ति अपने जीवन काल में कुछ धन अपने बुढापे के लिये अवश्य बचा कर रखे जिससे उनको वृद्वावस्था में किसी के आगे हाथ न फैलाना पड़े।
5. प्रत्येक व्यक्ति उचित सम्मान का हकदार है। समाज एवं परिवार का दायित्व है कि वो वृद्वों को सम्मान दें।
6. समाज में धार्मिक व्यक्तियों को या एन0जी0ओ0 को वृद्वों के लिये उनकी उचित देखरेख के लिये आगे आना चाहिये एवं वृद्वों की सहायता करनी चाहिये विशेष कर उनके स्वास्थ्य एवं खाने पीने की व्यवस्था करनी चाहिये।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :–

1. विग्गस सिमोन (1993), अन्डर स्टैडिंग , एजिंग वर्निधम ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस दृ–20।
2. गोर, एम0एस0 (1990), सोशल फैक्टर्स, एफैक्टिंग द हेल्थ ऑफ द इल्डरली, इन आर0एल0 काने, जे0जी0 इवांस, मैकफैड–1 (सं0), इम्प्रोविंग द हेल्थ ऑफ ओल्डर, पीएल वर्ल्ड न्यू ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयार्क प्र–119।
3. भग बी0राम0 सईद अनीसा (2006), एजिंग एण्ड डिपेन्डेंसी इन इण्डिया, ए न्यू मिजरमेन्ट एशियन पॉपुलेशन स्टडीज, 2 (2) जुलाई, द–126।
4. शर्मा बाई (1994) बुढ़ापा अपेक्षा और उत्पीड़न का संगारा हिन्दुस्तान, पटना 4, 12, 1994।
5. रमामूर्ति, पीवी (1996), द साईको –सोशल स्कैनिरियों आफ द इल्डरली, प्रोब्लेम, प्रिओसिटीज एण्ड पर्सपेक्टिव आर डी जर्नल, हेल्थ एज इण्डिया वोल्यूम–3 नं0–1 पृ0–93

ग्रामीण महिलाओं की समस्याएं एवं उनको दूर करने का सुझाव

डॉ० सुषमा पाठक
शोध निर्देशिका

प्रोफेसर
राजा मोहन गर्ल्स पी0जी0 कालेज
सम्बद्ध– डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या (उ०प्र०)

सुषमा भारती
शोध छात्रा

समाजशास्त्र
राजा मोहन गर्ल्स पी0जी0 कालेज
सम्बद्ध– डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या (उ०प्र०)

प्रस्तावना :–

भारतीय समाज में अश्पृश्यता के कारण आज भी बहुत सारी कठिनाइयां तथा समस्याओं का सामना करना पड़ता है छुआ छूत का जो नियम हमारे समाज में विद्यमान है उनके कारण मानव–मानव एक दूसरे से दूरी बनाकर रखते है। कभी भी जाति व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास सफल नहीं हो सका। महानगरों में काफी हद तक जाति व्यवस्था कम हुई है यही कारण है कि बड़े–बड़े शहरों में अर्न्तरजातीय विवाह होता है वहाँ लोग धन से सम्बन्धित प्रस्थिति को अधिक महत्व देते है।

परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इसके विपरीत दशास्थिति देखने को मिलती है। ग्रामीणवासी कभी भी अर्न्तजातीय विवाह को मान्यता नहीं देते। परिवार की प्रथम प्राथमिकता यही होती है कि उनकी बेटियों की विवाह अपने ही जाति में हो। शोध कार्य के समय शोधार्थिनी को जिन समस्याओं का विवरण प्राप्त हुआ उसके आधार पर सुझाव इस प्रकार है–

1 : डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की सम्पूर्ण जीवन संघर्ष, संविधान निर्माण की जानकारी उपलब्ध कराना – ग्रामीण समुदाय की स्त्रियों को डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के विषय में पूरी जानकारी देना चाहिए क्योंकि आज भी महिलाएं बाबा साहेब के योगदानों से परिचित नहीं है। साक्षात्कार के समय कुछ महिलाएं बाबा साहेब का नाम भी नहीं जानती थी तो उनके संघर्ष को कैसे जान सकती है। इस कार्य के लिए सबसे पहले परिवार के शिक्षित व्यक्तियों को ही आगे आना होगा

जो लोग पढ़–लिख सकते उन्हें डॉ0 भीमराव अम्बेड़कर से सम्बन्धित कुछ मुख्य किताबों को पढ़ना चाहिए। अशिक्षित महिलाओं को कहानी संग्रह के रूप में मौखिक सुनाया जाना चाहिए। तभी महिलाएं ज्ञात कर पायेंगी कि बाबा साहेब ने कितना कष्ट सहकर अछूतपन की बेड़ियों को तोड़ा और पढ़ाई–लिखाई करके बैरिस्टर के पद पर भी आसीन हुए फिर भी उनकी राहे कांटों से बिछी थी। जातिगत छुआ–छूत रूपी काटें उनको जीवन पर्यन्त चुभते रहे। फिर भी भारतीय संविधान का निर्माण उनके ही करकमलों से कराया गया। वे हम सभी स्त्रियों की स्वतंत्रता तथा संवैधानिक अधिकारों को संविधान में पूर्ण संरक्षित किए। अनुसूचित जाति की स्त्रियों का दुर्भाग्य है जो हम डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के विषय में नहीं जानते और जानने का भी प्रयास नहीं करते।

2 : शैक्षिक पाठ्यक्रम में अश्पृश्यता उन्मूलन को सम्मिलित किया जाना चाहिए– शैशवावस्था से लेकर किशोरावस्था तक सभी सामाजिक नियमों, व्यवहारों, तौर–तरीके तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों को हमारे माता–पिता पारिवारिक सदस्य इन सभी बातों को सीखाते है कि किसी व्यक्ति के साथ हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए शैक्षिक पाठ्यक्रमों में नैतिक आचरण को अवश्य पढ़ाया जाता है। उसी प्रकार से जाति, छुआ–छूत जैसी आसामाजिक तथ्यों को भी पढ़ाया जाना चाहिए। बालक मन कच्चे घड़े के समान होता है इन्हे बचपन से इन सभी बातों से अवगत कराना चाहिए।

जाति–पाति, ऊँच नीच, छूआ–छूत की बातें प्रायः हमारे परिवार के सदस्य ही बताते और सीखाते है। छूआ–छूत की भावना बालकों के कोमल मस्तिष्क में बैठाया जाता है यही कोमल मस्तिष्क तब कठोरता का रूप धारण करता है जब वह परिवार की चारदीवारी से निकल कर स्कूल–कालेज में पहुँचता है, वहाँ कई जाति–वर्ग के बच्चे शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते है।

उच्च जाति वर्ग के बच्चे अपने परिवार से सीखी हुई बातों का वहाँ अनुसरण करते है जब उनके समक्ष कोई निम्न जाति, वर्ग का बालक–बालिका शिक्षा प्राप्ति हेतु जाते है तो उच्च जाति के बच्चे उनके साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाते क्योंकि प्रारम्भ से ही उनके मस्तिष्क में जाति, छूआ–छूत की भावना डाली जा चूकी है।

3– कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों का अनुसरण –

कार्ल मार्क्स पददलितों, गरीबों और वंचित लोगों के मसीहा माने जाते है। मार्क्स पूंजीवाद के विरोधी थे। डॉ0 बी0आर0 अम्बेडकर को मार्क्स का सिद्धान्त अछूतों के अधिक निकट दिखाई दिया मार्क्स ने अर्थशास्त्र की व्याख्या नये तरीके से की मार्क्स गैर–बराबरी यानी असानता के विरूद्ध थे। मार्क्स के सिद्धान्तों को अम्बेडकर ने निम्न बिन्दुओं में रखा है–

1. दूनिया को बनाने का काम मुख्य रूप से आर्थिक कारक है
2. समाज में दो वर्ग है– मालिक और मजदूर
3. दो वर्गों में बराबर संघर्ष चलता है
4. मालिक मजदूरों का शोषण करते है

5. शोषण के साथ–साथ गरीबी बढ़ती जाती है
6. बढ़ती हुई गरीबी लोगों में क्रांति की भावना पैदा करती है।

मार्क्स और बुद्ध का तुलनात्मक अध्ययन अम्बेडकर ने प्रस्तुत किया इसके पीछे स्पष्ट उद्देश्य है कि अम्बेडकर समाजवाद के हिमायती है। बुद्ध कहते है कि कठिन मेहनत और पसीने से कमाया गया धन परिवार को सुख देता है। अम्बेडकर ने मार्क्स और बुद्ध की तुलना इसलिए की है क्योंकि ये दोनों मनुष्य की समृद्धि चाहते है। अछूत पददलित इसलिए है कि वे परम्परागत वर्ण व्यवस्था के कारण गरीब बना दिए गए है उनकी गरीबी दूर कीजिए इसके फलस्वरूप ही उनका अछूतपन स्वयं समाप्त हो जायेगा।

4– बुद्ध, पेरियार, फूले तथा अम्बेडकर के विचारों को ग्रामीण समाज में प्रसारित करना–

बुद्ध – महात्मा गौतम बुद्ध को दलित–क्रान्ति का सबसे पहला सूत्रधार तथा प्रणेता माना जाता है। गौतम बुद्ध ने कर्मकाण्ड, पाखण्ड, छूआ–छूत के विरोध में आवाज उठाई। बुद्ध ने एक सर्वसुलभ धर्म (बौद्ध धर्म) की स्थापना की थी बुद्ध के धर्म में डाकू तथा वैश्या को भी स्थान दिया गया है आम्रपाली तथा अंगुलीमल उनके शिष्य थे। गौतम बुद्ध के धर्म में सभी स्त्रियों, जातियों, वर्गों का स्वागत किया जाता था। उनके धर्म की यही विशेषता थी कि वे दीन–दुःखी, शोषित, दलित सभी प्रकार के व्यक्ति को सम्मिलित किया जाता था यही कारण है कि गौतम बुद्ध को लाइट ऑफ एशिया का उपनाम दिया गया है।

पेरियार – इन्होंने जातिवादी व गैर बराबरी वाले हिन्दुत्व का विरोध किया पेरियार जीवन पर्यंत जाति और हिन्दू धर्म से उत्पन्न असमानता और अन्याय का विरोध करते रहे। इनके धार्मिक विचार बहुत ही तीक्ष्ण थे वे स्वयं में नास्तिक तथा तर्कवादी थे। तमिलनाडू में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कटु आलोचक थे। पेरियार ने कहा है "धर्म अंधविश्वास और भय के साथ–साथ चलता है धर्म प्रगति को रोकता है और मनुष्य को दबाता है। धर्म दमित वर्गों का शोषण करता है।"

पेरियार भारत के द्रविड़ समाज सुधारक और राजनीतिज्ञ थे इन्होंने आत्मसम्मान आन्दोलन और द्रविड़ कजगम की स्थापना की थी। इन्होंने महिलाओं के अधिकारों के लिए आवाज उठाई। इनका विचार है कि पुरुषों और महिलाओं दोनों में बुद्धि जीवी, साहसी, लोग होते है साथ ही मुर्ख और कायर भी होते है। पुरुष और महिला दोनों ही इंसान है। शारीरिक विशेषताओं में अंतर होने से मानवीय गुण नहीं बदल जाते। अभ्यास से पुरुष और महिला दोनों की स्थिति में सुधार होता है।

इनके विचारों को स्त्रियों को अवश्य बताना चाहिए ताकि ग्रामीण स्त्रियाँ धार्मिक अंधविवास, अंधकार्मकाण्ड, अंध भक्ति से बच सके।

महात्मा ज्योतिराव गोविन्दराव फुले – सावित्री बाई फुले – फुले दंपत्ति ने अश्पृश्यता, जाति व्यवस्था का उन्मूलन किया तथा उत्पीड़ित महिलाओं को जागृत और शिक्षित किया। सावित्री बाई

फुले को भारत की प्रथम शिक्षिका कहा जाता है। फुले दंपत्ति ने सभी वर्ग एवं जाति के महिलाओं के अधिकारों के लिए जीवन पर्यंत संघर्ष किया उन्होंने देखा कि विधवा स्त्रियों के साथ बहुत ज्यादा क्रूर व्यवहार किया जाता है उनके बाल कटवा दिए जाते है, स्वादिष्ट भोजन नहीं खाने दिया जाता, रंग–बिरंगे सुन्दर कपड़े पहनने पर प्रतिबन्ध था, शुभकार्य में जाने पर प्रतिबन्ध था सुबह भोर में उनका चेहरा देखा बहुत अशुभ माना जाता था। विधवा स्त्रियां तो यौन शोषण का शिकार होती रहती थी।

इन सभी सामाजिक बुराइयों, समस्याओं को फुले दम्पत्ति ने दूर किया अतः हम कह सकते है कि ग्रामीण स्त्रियों को इनके विषय में अवश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रमुखता अनुसूचित जाति की स्त्रियों को इनकी लिखी गई किताब 'गुलामगिरी' अवश्य पढ़ना चाहिए।

हमारे भारतीय समाज में स्त्री ही स्त्री की विरोधी होती है। एक स्त्री दूसरी स्त्री से ईर्ष्या की भावना रखती है 'सावित्री बाई फुले' उनके लिए देवी तुल्य है जो स्वयं स्त्री होकर दूसरी स्त्रियों का उद्धार किया।

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर – भारत में यदि स्त्रियों, अनुसूचित जातियों, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक प्रतिबन्धों, छूआ–छूत की चर्चा हो और डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की व्याख्या न की जाए तो सब कुछ अधूरा छूट जायेगा। डॉ0 अम्बेडकर को संविधान निर्माता का आधुनिक मनु कहा जाए तो कोई गलत नहीं है।

बाबा साहेब जिस समाज से सम्बन्धित थे उस दलित समाज की स्त्रियों की स्थिति बहुत दयनीय थी। भारतीय समाज में उनका स्थान तीसरे दर्जे का था स्वयं दलित पुरुष भी अपनी स्त्रियों का शोषण करते थे। डॉ0 अम्बेडकर ने 25 दिसम्बर 1927 को महाड के ऐतिहासिक सम्मेलन में महिलाओं का जीवन ही बदल दिया। संविधान में महिलाओं को चतुर्मुखी अधिकार दिलाया। 13 नवम्बर 1927 को मंदिर प्रवेश जुलूस में हजारों स्त्रियों ने भाग लिया। 20 जुलाई 1942 को आयोजित अखिल भारतीय दलित महिला सम्मेलन में 25 हजार महिलाओं ने भाग लिया कोयला खान में काम करने वाली स्त्रियों के प्रसूति अवकाश, स्वास्थ्य, मनोरंजन और काम करने के घण्टे निश्चित किए अतः हम निश्चित रूप से कह सकते है कि सभी जाति वर्ग की स्त्रियों को बाबा साहेब के विषय में पढ़ना, पढ़ाना चाहिए।

मूल समस्या स्त्री अशिक्षा को दूर करना –

गांव का विकास स्त्री शिक्षा पर ही आधारित है यदि गांव का विकास करना हो तो ग्रामीण स्त्रियों को शिक्षित करना पड़ेगा। ग्रामवासी लड़कियों के लिए रोजगार परक तथा जीवनपयोगी पाठ्यक्रम बनाना आवश्यक है ताकि शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें किसी उन्नत रोजगार से जोड़ा जा सके। शिक्षित होने पर ग्रामीण लड़कियों को समाज में बहुत आदर दृष्टि से देखा जाता है एवं लड़कियों को विस्तृत मंच मिलता है उनमें आत्मविश्वास की भावना आती है। आज शिक्षित

होकर छात्राएं महिला संगठनों एवं एन0जी0ओ0 में कार्यरत है। शिक्षा आन्तरिक वृद्धि तथा विकास की एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ मनुष्य को मानव बनाना, जीवन को प्रगतिशील, सुसंस्कृत, सभ्य बनाना है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपनी विचार शक्ति, तर्क शक्ति, समस्या समाधान, भौतिकता, कुशलता, मूल्यों तथा स्वनैतिकता का विकास करता है।

शिक्षा के बल पर ही हमारे भारतीय मूल की कुछ विदेशी महिलाएं आज पूरे विश्व में अपनी योग्यता और ज्ञान का तिरंगा लहरा रही है। कमला हैरिस, कल्पना चावला उषा चिलुकुरी, निक्की हेली, प्रमिला जयपाल, नीरा टंडन तथा सुनीता विलियम्स इत्यादि सुनीता विलियम्स इस समय अन्तरिक्ष स्पेस में फंसी हुई है।

अधिकांश महिलाएं अभी भी अपने स्त्री होने पर मानसिक रूप से कमजोर समझती है। नारी की कोमलता सुन्दरता कुछ दिनों बाद स्वतः कम हो जाती है परन्तु अर्जित की गई उपलब्धियां उनके संसार से जाने के बाद भी याद किया जाता है। अतः स्त्री को किसी एक बंधन में कैद होकर नहीं जीना चाहिए जब जहाँ जैसे अवसर मिले स्वयं को निखारना आवश्यक है। प्रत्येक स्त्री के लिए मुक्ति के द्वार खुले है बस पुरातन दकियानुसी असामाजिक परम्पराओं को तोड़कर बाहर निकलना है।

अनुसूचित महिलाओं का साहित्य मंच एवं स्त्री साहित्य का अध्ययन –

दलित समस्या पर प्रेमचन्द से अधिक किसी भी लेखक ने नहीं लिखा प्रेमचन्द रोशन खयाल, मार्मिक अभिव्यक्ति, रैडिकल तेवर के लेखक थे। कफन, आगा–पीछा, दूध का दाम भाड़े के टट्टू, मंगल सूत्र आदि दलित कथा साहित्य है। गोदान उपन्यास ख्याति प्राप्त है उसमें किस प्रकार उच्च जातियों द्वारा शोषण किया गया अच्छा वर्णन मिलता है।

दलित साहित्य भारत के बहुसंख्यक समाज की पीड़ाओं, उनकी व्यथाओं यथार्थ का साहित्य है। दलित साहित्य सामाजिक रूढ़ियों पाखण्डों, अन्धविश्वासों को छिन्न–भिन्न करने के लिए संघर्षरत है।

साहित्य स्त्री के विभिन्न रूपों, उनकी समस्याओं, भूमिकाओं की व्याख्या करता है। दलित स्त्रियों ने कई सदियों तक अनेकों पीड़ाओं को भोगा है परन्तु आज दलित स्त्रियां जाग गई है वह अपनी मुखर वाणी में अपनी व्यथा कहती है। यदि ग्रामीण स्त्रियों को स्त्री साहित्य के माध्यम से जागरूक किया जाए और अपनी भावनाओं, कष्टों को व्यक्त करने का एक मंच दिया जाए तो वे अवश्य अपनी स्थिति प्रगतिशील बना सकती है।

हिन्दू कोड बिल की जानकारी तथा उसे आत्म सात करना –

भारत का संविधान लिखने के बाद डॉ0 अम्बेडकर ने भारतीय नारी को मानवीय अधिकार दिलाने का इरादा किया– वह था 'हिन्दू कोड बिल'। संयुक्त परिवार तथा स्त्रियों की सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित इसके कई भागों ने विपक्षियों की नींद तोड़ दी थी। डॉ0 अम्बेडकर का इस बिल को पारित कराने के पीछे एक ही उद्देश्य था कि 'समग्र भारत का हिन्दू समाज एक ही

प्रकार की विधिक आचार संहिता से नियन्त्रित हो तथा प्रकारांतर में एक राष्ट्र और एक राष्ट्रीयता का विकास करने में सहायक हो।

हिन्दू कोड बिल का उद्देश्य सम्पत्ति कानूनों और प्रक्रियाओं को संहिताबद्ध करना था जो पुरुषों और महिलाओं दोनों पर लागू होते। इस बिल के अनुसार संपत्ति के जन्मसिद्ध अधिकार को समाप्त करना, विवाह और गोद लेने में जाति का उन्मूलन, और एक विवाह तथा तलाक जैसे विषयों पर चर्चा की गई थी। सबसे अधिक विवादित भाग विवाह, एक विवाह, तलाक तथा महिलाओं के लिए समान सम्पत्ति अधिकार जाति–आधारित सीमाओं के उन्मूलन वाला विवादित प्रावधान था। अन्ततः इस बिल को पास नहीं होने दिया गया, परन्तु शैने–शैने इस बिल में संशोधन करके अब लागू किया जा रहा है।

पूना पैक्ट पर पुनः विचार तथा भविष्यगत संशोधन –

20 अगस्त 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर रेमसे मेकडोनॉल्ड ने कम्युनल अवार्ड की घोषणा की इसके अन्तर्गत दलितों को दोहरे मताधिकार प्राप्त हुए यह बाबा साहेब की महान विजय थी गांधी जी ने बाबा साहेब पर अनशन रूपी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। डॉ0 अम्बेडकर के लिए यह कठिन समय था।

पूना पैक्ट की मुख्य बातें निम्न है– इस समझौते के जरिए दलित वर्गों को कानून में आरक्षण मिला। दलितों के लिए विधायिका में आरक्षित सीटों की संख्या 71 से बढ़ाकर 149 और केन्द्रीय विधायिका में कुल सीटे 18 प्रतिशत की गई। राज्य के शिक्षा अनुदान का एक हिस्सा दलित वर्गों के लिए रखा गया। इस समझौते के तहत डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की मांग को त्याग दिया तथा उन्हें विधान मंडल के अंदर हिन्दुओं के अन्तर्गत ही स्थानों की सुरक्षा प्रदान की गई थी। डॉ0 अम्बेडकर का मानना था कि अलग निर्वाचन मंडल दलित वर्गों के उत्थान के लिए काम करेगा। आज अनुसूचित जाति के लोगों को पूना पैक्ट के विषय में अधिक जानकारी नहीं है इसलिए वे अपने वास्तविक अधिकारों से अपरिचित है।

जीवन गुणवत्ता में परिवर्तन के लिए टी0वी0 चैनलों पर स्वास्थ्य से सम्बन्धित कार्यक्रमों को देखना –

12 अप्रैल 2005 को भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (NRHM) की स्थापना की गई है इसका उद्देश्य संक्रामक और गैर–संक्रामक रोगों की रोकथाम और नियंत्रण करना है। मलेरिया और डेंगू से होने वाली मृत्युदर को 50 प्रतिशत तक कम करना कुष्ठ रोग की दर को 1 प्रतिशत कम करना और तपेदिक के लिए 85 प्रतिशत इलाज दर प्राप्त करना है।

(RKSK) राष्ट्रीय किशोरी स्वास्थ्य कार्यक्रम के तहत ग्रामीण किशोरियों में मासिक धर्म स्वच्छता के बारे में जागरूकता बढ़ाता है। ग्रामीण किशोरियों में गुणवत्तापूर्ण सेनिटरी नैपकिन उपलब्ध कराता है।

योग शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम योग विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण पाठ्यक्रम है इसका मुख्य उद्देश्य स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी को प्रशिक्षित कराना है। 2024 में 10वां अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाया गया जिसका विषय है "स्वयं और समाज के लिए योग।"

ये सभी कार्यक्रम ग्रामीण महिलाओं को अवश्य देखना चाहिए और अपने परिवार की महिलाओं को बताना चाहिए। सही संयम योग और सही तरीके से खान–पान के द्वारा महिलाएं अपनी दिनचर्या सुधार सकती है। वे स्वस्थ्य होंगी तो पूरा महिला समाज भी स्वस्थ्य होगा इससे उनके जीवन में गुणवत्तापूर्ण सुधार होगा।

विज्ञान के क्षेत्र में स्त्री –

कुछ दशक पूर्व विज्ञान की दूनिया में उड़ान भरने वाली महिलाओं की संख्या भले ही कम रही हो, परन्तु आधुनिक भारत की महिलाएं अब दूनिया में अपनी विद्वता का लोहा मनवा रही है। जानकी अम्माल केरल की रहने वाली है इनका शोध विदेशी गणों की संकर प्रजातियों की खोज एवं क्रॉस ब्रीडिंग पर था। अन्नामणि ने फिजिक्स और मौसम विज्ञान के क्षेत्र में योगदान दिया। किरण मजूमदार शॉ ने मधुमेह, कैंसर और आत्म प्रतिरोधी बीमारियों पर शोध सहित एंजाइमों के निर्माण के लिए एकीकृत जैविक दवा कंपनी 'बायोकॉन लिमिटेड' की स्थापना में योगदान दिया रितु करिधल भारत की रॉकेट बुमन उ0प्र0 लखनऊ से सम्बन्धित है। रितु करिधल चन्द्रयान 1 मिशन में डिप्टी ऑप रेशंस डायरेक्टर के रूप में काम किया। डॉ0 टेसी थॉमस पहली मिसाइल वुमन मानी जाती है। इन्होंने अग्नि–2, अग्नि–3, अग्नि–4, अग्नि–5 में प्रोजेक्ट डायरेक्टर के रूप में काम किया।

अतः हम कह सकते हैं कि समाज की सभी स्त्रियों को शिक्षित होना आवश्यक है ताकि वे विज्ञान प्रौद्योगिकी में कदम रख सके और देश का नाम रोशन करे।

स्वामी अछूतानन्द जी के प्रयासों पर प्रकाश –

स्वामी अछूतानन्द का जन्म जाटव जाति में हुआ था। इन्होंने जीवन पर्यंत सभी निम्न तथा अछूत जातियों को दासता की बेड़ियों से निकालने का प्रयास किया। अछूतों में राजनैतिक चेतना पैदा करने के लिए 1923 ई0 में 'आदि हिन्दू–आन्दोलन' चला कर अछूतोद्धार किया। स्वामी जी ने कहा ''भारत के हिन्दू मुसलमानों के साथ–साथ अछूतों को भी आजादी चाहिए। आजादी के सही हकदार अछूत है जिनके श्रम और शक्ति पर देश का उत्पादन होता है जो धरती का सीना चीर कर अन्न उगाता है दुःख की बात है कि वही भूखा, नंगा, शोषित, गुलाम, दास, पशुवत जीवन जीने को विवश है।''

बंबई, पंजाब, कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, अमरावती, कानपुर, अल्मोड़ा जयपुर आदि स्थानों पर सम्मेलन किए इससे उत्तरी भारत में अछूतों की आंखे खुल गई उच्च जातियों में चिन्ता होने लगी कि अछूत अब आजाद हो जायेंगे, गरीबी दूर होगी, शिक्षित होकर अधिकारी बनेंगे, तो

हमारे घरों में, खेतों में बेगारी कौन करेगा? स्वामी अछूता नंद के इन योगदानों को अनुसूचित जातियों को अवश्य ज्ञात कराना चाहिए ताकि वे फिर से सुसुप्तावस्था में न जाए और उच्च शिक्षा, परिश्रम से समाज का कल्याण कर महिलाओं का विकास करे।

विश्व महिला सम्मेलनों का आयोजन –

प्रथम विश्व महिला सम्मेलन 19 जून से 2 जुलाई तक मैक्सिको सिटी में 1975 ई0 में हुआ इसी सम्मेलन में 1976 को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष एवं 1975–84 को महिला दशक घोषित किया गया। द्वितीय विश्व महिला सम्मेलन 14 जुलाई से 31 जुलाई तक 1980 में कोपेनहेगन में हुआ। तृतीय विश्व महिला सम्मेलन 15 जुलाई से 26 जुलाई 1985 को नैरोबी में हुआ। चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन 4 सितम्बर से 15 सितम्बर 1995 ई0 में पेइचिंग (चीन) में हुआ।

इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस हर वर्ष 8 मार्च को मनाया जाता है इस साल संयुक्त राष्ट्र महिला 2024 द्वारा दी गई थीम है ''महिलाओं में निवेश करे : प्रगति में तेजी लाए।''

साल 2025 में महिलाओं से जुड़े कई सम्मेलन होने वाले है जैसे– लिंग और महिला अध्ययन पर 12वां अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन (GWS 2025) बैंकॉक तथा महिलाओं के भविष्य पर 8वां सम्मेलन (Future of Women 2025) तथा महिला क्रिकेट विश्व कप का 13वां संस्करण भी आयोजित किया जाएगा इसकी मेजबानी भारत करेगा इन सभी सम्मेलनों में शिक्षित और शोध कार्य से जुड़ी स्त्रियां भाग ले सकती है ताकि महिलाओं के नारीत्व को बल मिले।

चलचित्रों, धारावाहिकों का निर्माण एवं उनका प्रसारण –

महिलाओं से सम्बन्धित टी0वी0 सीरीयल भी बहुत बनाए जाते है परन्तु इन सभी सीरियलों में पारिवारिक झगड़े अधिक दिखाए जाते है। कुछ धारावाहिक ऐसे भी हो जो किसी भारतीय स्त्री के जीवन पर आधारित हो जैसे कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स किरण बेदी, कमलजीत संधू, बछेन्द्री पाल, डॉ0 रखमाबाई, सावित्री बाई फूले, ताराबाई शिंदे, रजिया सुल्तान, अहिल्याबाई होल्कर, झांसी की रानी लक्ष्मी बाई, सुश्री पूर्व मुख्यमंत्री मायावती, पी0वी0 सिंधु, मैरीकॉम इत्यादि महिलाओं पर भी सीरियल बनने चाहिए।

भारतीय महिलाओं पर फिल्मों का निर्माण भी बहुत किया गया परन्तु कुछ फिल्में अनुसूचित जातियों पर भी बनाना आवश्यक है जैसे– भीमा कोरेगांव, जयभीम, आरक्षण, शूद्रा द राइजिंग इत्यादि पर फिल्मों का निर्माण किया गया। इससे महिलाओं तथा अनुसूचित जातियों को अपने पूर्व इतिहास का अवलोकन होगा और आने वाले भविष्य को सुनिश्चित कर पायेंगी, परन्तु विडम्बना यह भी है कि इस प्रकार की फिल्में भारत में बहुत कम बनती है और लोगों द्वारा देखने में अरूचि भी दिखाई देती है। मोबाइल पर फालतू के रील्स देखने से अच्छा है कि महिलाएं ऐसी फिल्मों सीरियलों, लघुकथाओं से जुड़ी चीजों को देखे अपने अधिकार का ज्ञान प्राप्त करे और भावी पीढ़ियों को सशक्त बनाए।

ग्रामीण महिलाओं में गत्यात्मकता का प्रसार एवं गृह स्वास्थ्य का ज्ञान –

प्रत्येक प्राणी का स्वास्थ्य उसका मूलभूत मानवाधिकार है। भारत में महिलाओं का स्वास्थ्य चिंता का विषय है अधिकांश महिलाएं रक्त अल्पता की शिकार है। इसके कारण गर्भवती महिलाएं कुपोषण का शिकार बनती है। राष्ट्रीय परिवार सर्वेक्षण 5 के अनुसार किशोरवय महिलाओं में एनीमिया की स्थिति 54 प्रतिशत (2015–16) से बढ़कर 59 प्रतिशत (2019–21) हो गई है। बिल गेट्स ने 3 मार्च 2023 में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय में आयोजित पोषण के माध्यम से सशक्तिकरण : कार्यक्रम में कहा कि पोषण स्वास्थ्य और महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने के लिए महिलाओं के जीवन को बदलना होगा।

संसद ने 1990 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया एवं 2001 में महिला सशक्तिकरण के लिए एक राष्ट्रीय नीति की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य सभी क्षेत्रों में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाना है। मैकिन्से ग्लोबल इंस्टीट्यूट की एक रिर्पोट के अनुमानतः महिलाओं को समान अवसर देकर भारत 2025 तक घरेलू उत्पादन में 770 विलियन अमेरिकी डॉलर जोड़ सकता है फिर भी GDP में महिलाओं का वर्तमान योगदान 18 प्रतिशत है।

मुक्ति के द्वारा खुले हो –

आज की नारी अब केवल अपनी समस्याओं का रोना नहीं रोती है वरन् वे समस्याओं को हल करती है और समाज को प्रेरित करके कई संस्थाओं का निर्माण करके समाज सेवा का कार्य करती है। दूसरों को दिशा प्रदान करके प्रकाश स्तम्भ की भांति अडिग है। ईश्वर प्रदत्त कोमल काया को स्त्रियों ने परिश्रम की आग में तपाकर बहुत मजबूत बना लिया है– पी0टी0 उषा, किरण बेदी, सुनीता रानी, मैरीकॉम, बबीता फोगाट, गीता फोगाट, विनेश फोगाट, आरती साहा बछेन्द्री पाल, अवनी लेखरा, दीपा मलिक मिताली, मधुमिता, गुन्जन सक्सेना इत्यादि में उन महिलाओं के ज्वलंत नाम है जिन्होंने कभी अपनी स्त्रीपन की कमजोरी का रोना नहीं रोया।

परन्तु अधिकांश महिलाएं अभी भी अपने स्त्री होने पर मानसिक रूप से कमजोर समझती है। नारी की कोमलता सुन्दरता कुछ दिनों बाद स्वतः कम हो जाती है परन्तु अर्जित की गई उपलब्धियां उनके संसार से जाने के बाद भी याद किया जाता है। अतः स्त्री को किसी एक बंधन में कैद होकर नहीं जीना चाहिए जब जहाँ जैसे अवसर मिले स्वयं को निखारना आवश्यक है। प्रत्येक स्त्री के लिए मुक्ति के द्वार खुले है बस पुरातन दकियानुसी असामाजिक परम्पराओं को तोड़कर बाहर निकलना है।

विवाह के नये विकल्प –

भारत में जाति व्यवस्था की कठोरता के कारण विवाह में भी बहुत रूकावटे आती है। उच्च जाति का परिवार निम्न जाति के परिवार में विवाह नहीं करता निम्न जाति की लड़की चाहे

कितनी भी पढ़ी–लिखी हो अर्थ व्यवस्था में भी सक्षम होने पर भी उच्च जाति में विवाह नहीं हो पाता।

परन्तु अब इस प्रकार के सामाजिक बन्धनों तथा व्यवस्थाओं को पीछे छोड़ देना चाहिए। यदि समाज अन्तरजातीय विवाह को भी मान्यता देने लगे तो समाज में बहुत सी घटनाएं समाप्त हो जाएगी। ऑनरकीलिंग जैसी घटनाएं भी प्रेम प्रसंग का कारण होती है। उच्च–निम्न जाति का लड़का–लड़की दोनों जानते है कि उन्हें उनका परिवार सहयोग नहीं करेगा इसलिए वे घर से भागने का कदम उठाते है जिससे सबसे ज्यादा बदनामी लड़की के घर वालों की होती है। कभी–कभी तो बदनामी की लज्जा से माता–पिता आत्महत्या भी कर लेते है। अब समाज में अन्तरजातीय विवाह के नियम में नम्रता लानी चाहिए, प्रेम विवाह, अनुमोल विवाह, प्रतिलोम विवाह को भी पूर्ण सामाजिक सहयोग मिलना आवश्यक है। इससे विवाह के लिए योग्य वर–वधु खोजा जा सकता है।

अनुसूचित जातियों की महिलाओं का राजनीति में पदार्पण –

सदियों की दासता और सामाजिक बहिष्कार की वजह से दलितों में अंधविश्वास, भाग्यवाद, पुनर्जन्म, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक, कर्मफल इत्यादि बातें मन में बैठ गई थी। चूँकि दलित समाज का बहुसंख्यक भाग आज भी गांव में निवास करता है। प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास ग्रामीण समाज में असमान भूमि वितरण पर टिप्पड़ी करते हुए लिखते है आमतौर पर देहातों में भूस्वामित्व का रूप ऐसा है कि भूमि का अधिकांश भाग भू–स्वामियों के हाथों में है जबकि अधिकांश दलित वर्ग भूमि हीन है। पहले कृषि ही आय का महत्वपूर्ण साधन थी जब हमारा समाज अर्थव्यवस्था में डगमगा रहा हो तो उससे राजनीति सत्ता हासिल करने की आशा नहीं कर सकते। गरीबी और भूख से तिलमिलाता मानव धर्म, समाज या राजनीति की बात नहीं कर पायेगा। भूमि तथा धन सम्पन्न व्यक्तियों का राजनीति में पकड़ मजबूत होती है। सत्ता में बने रहने के लिए धन का न्योछावर दिया जाता है।

अब यदि हम अनुसूचित जाति की ग्रामीण महिलाओं की बात करें तो ये भूमि, धन, शिक्षा राजनीतिक पकड़ सभी में दूसरो से पिछड़ी हुई है। फिर भी संवैधानिक आरक्षण मिलने पर महिलाएं राजनीति में पदार्पण कर रही है लेकिन अभी महिलाओं की संख्या बेहद कम है।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची</u> :–

1. दूबे, एस0एम0 – मनु की समाज व्यवस्था।
2. अग्रवाल, जी0के0 – समाजशास्त्र, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, सामाजिक समस्याएँ, सामाजिक शोध एवं सांख्यिकी (साहित्यभवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा0लि0, आगरा) संस्करण–1999.
3. आहूजा, बाबूराम – सामाजिक समस्याएं, (रावत पब्लिकेशन, जयपुर) संस्करण–2000.
4. जैन, शशि के0 – भारत समाज का अध्ययन (कालेज बुक डिपो, जयपुर) संस्करण–1997.

5. जैन, शशि के0 – ग्रामीण समाजशास्त्र (नई दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन) संस्करण–1987.
6. तोमर, गोयल दर्शन – परिवार और समाज (आगरा, श्रीराम मेहता) संस्करण–1976.
7. दीक्षित, प्रकाश चन्द्र – भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं व्यवहार सिद्धान्त (उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी), संस्करण–1983.
8. दूबे, बेचन एवं सिंह मंगला – समन्वित ग्रामीण विकास (जीवन धारा प्रकाशन, वाराणसी), संस्करण–1985.
9. महाजन, धर्म वीर – सामाजिक अनुसंधान की पद्धतियाँ, समाजशास्त्र का परिचय भारतीय समाज मुद्दे एवं समस्याएं (विवेक प्रकाशन, दिल्ली)।
10. प्रसाद, नागेश्वर – भारतीय जाति व्यवस्था (हिन्दी राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली) संस्करण–1983.
11. बसु, डी0डी0 – भारत का संविधान–एक परिचय', वाधवा एण्ड कम्पनी, विधि प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2001.

न हँसने वाला कवि

डॉ0 अवधेश कुमार श्रीवास्तव

प्राचार्य
रघुवीर पी0जी कालेज थलोई
जौनपुर उ0प्र0

संसार में दुःख अधिक है। सुख कम। महात्मा बुद्ध ने संसार के दुःख को देखा था। यो कहिए उनकी मुलाकात दुःखों से हुई थी। ऐसा दुःख जो सबको[1] होता है। राजा, रंक, फकीर, सबकों रोग का दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु का दुःख। दुःख इसके अतिरिक्त भी है। गरीबी और अभाव का दुःख। महीनो, वर्षो और जीवन भर भोजन, कपड़ा और दवा न मिलने का दुःख। वर्ग, जाति और वर्ण–व्यवस्था का दुःख। किन्तु इन दुःखों को सब नही देखते। 'सर्व दुखम्' में गरीबी का दुःख नही है। जाति और वर्ण व्यवस्था का दुःख नही है। किन्तु इन दुःखों का समर्थन भी नही है। हाँ रचना अवश्य है कि ये छोटे दुःख है। एक दुःख और है इस दुःख की अनुभूति तो सबकों होती है। किन्तु इसे समझ पाना सबके बूते का नही है। वह है अधिक खा लेने पर भी अंसतुष्ट या भूखे रह जाने का दुःख। बहुत स्वाद और रस लेकर बेस्वाद एवं नीरसता का दुःख। सभी रसों के नष्ट हो जाने का दुःख। रस–रस करते हुए रस के सूख जाने का दुःख। यद्यपि बौद्ध धर्म में समानता की बात है। किन्तु इनकी पीड़ा और बैचेनी नही है।

कबीर ने भी दुःख देखा था। ऐसा ही दुःख। उनकी माया दुःख देने वाली है। सबकों बांधती है। ठगती है। गिरफ्तार करती है घर में घुसकर नाश करती है। प्यार से, दुलार, से स्त्री धन और सेविका बनकर कष्ट देती है। कुछ नित्य जल रहे थे। उनके जीवन में हँसी नही थी। आनन्द नही था। अपने दुःख से जल रहे थे। परिवार और समाज के दुःख से जल रहे थे। कबीर की माया भी सबकों जलाती है। वे इससे मुक्त होना चाहते है। एक शाश्वत तत्व की खोज में थे। जो उनका दुःख दूर करे दे। किन्तु दुःख दूर करने की प्रक्रिया निराली है। दुःख दूर करने वाले को पाने का दंश विचित्र है। दुःख को दूर करने के लिए दुःखी होना होगा। लोहा –लोहा से कटता है। विष की औषधि विष ही है। कबीर इसी लोहे से लोहे को काट रहे थे। दुःख के विष से दुःख को ठीक कर रहे थे।

कबीर स्पष्ट कहते है। 'हंसो मत। हसने से दुःख दूर नही होता। दुःख दूर करने वाला हँसने से नही मिलता। प्रसन्न रहने वालों से उस स्वामी की कोई सहानुभूति नही है। उसके दरबार में हँसने की मनाही है। (अधिकतर दरबार ऐसे ही होते है, जहाँ हँसना धृष्टता है। अपराध

है।) राजा किसी की हंसी बर्दाश्त नही कर सकता। हँसने का काम केवल सरकार बहादुर का है।[2]

सरकार बहादुर प्रजा को लूटकर मारकर छीनकर भी हँसती है। मुस्कारती है और अट्टहास करती है। दरबारी केवल उसी हँसी का साथ देता है। प्रजा को केवल रोना चाहिए। रोने से मालिक खुश होता है। रोने वाले पर वह दया करता है। शरण में ले लेता है। अपना बना लेता है। इससे मालिक का अहम संतुष्ट होता है। दुनिया का यही कायदा है। यही कायदा भगवान के यहाँ चलता है। इसलिए कि दुनिया भगवान की बनाई है। दुःख दुर करने वाला ईश्वर है। भगवान है। यह भगवान कबीर का प्रिय है। प्रियतम है। दुखियों का स्वामी है। सभी दुखिया उससे नाता जोड़ते है। अनेक नाते है। किन्तु कबीर की दृष्टि से प्रिय और प्रिय का नाता मुख्य है। कबीर को भगवान कंत प्रिय है। कंत भगवान को कबीर प्रिय है। किन्तु यह कंत हंसी विरोधी है। (हँस–हँस कन्त न पाइए जिन्हे, पाया तिन्ह रोई। संसार के प्रेम हँसी का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेमी से हँसी दिलग्गी चलती है। जहाँ दिल लगा कि दिलग्गी शुरू हुई। मनुहूस प्रेम नही कर सकता। प्रेम के लिए प्रसन्न्ता आवश्यक है। दो की प्रसन्नता और रजामंदी का नाम प्रेम है। शायद इसलिए प्रेम में दो अक्षर है। ढाई कह लीजिए। एक है मात्रा। ए की मात्रा। यह मात्रा प्रेम की प्रौढ़ता ही पहचान है। आखिर प्रेम की साक्षी भी तो होना चाहिए कबीर अक्सर प्रेम में दो की चर्चा करते है।[3]

दुःख सबको होता है।, रोग का दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु का दुःख। दुःख इसके अतिरिक्त भी है। गरीबी और अभाव का दुःख। महीनो, वर्षो और जीवन भर भोजन, कपड़ा और दवा न मिलने का दुःख। वर्ग, जाति और वर्ण–व्यवस्था का दुःख।

ऐसा ही दुःख है माया जो दुःख देने वाली है। सबकों बांधती है। ठगती है। गिरफ्तार करती है घर में घुसकर नाश करती है।

हँसने का प्रभाव बुरा होता है। हँसने वाला नरक जाता है। जाना है स्वर्ग। किन्तु हँसी का प्रभाव उल्टा होता है। नरक जाना पड़ता है। भला नरक कौन जाना चाहेगा? इसलिए हँसो मत। पहले भी हँसने वालो का बुरा हुआ है वे नरक गये है। आज भी हँसने वाले नरक जायेंगे। (केते अजहूँ जाईसी नरक हँसत–हँसत।) प्रायः लोग सुन्दरियाँ देखकर प्रसन्न होते है। उनसे हँसते है। मजाक करते है दिल बहलाते है। किन्तु यह हँसी मजाक दिल बहलाव ठीक नही, क्योंकि सुन्दरी से शूली भली है। ऐसे सोने से क्या लाभ जिससे फाँसी पड़ जाय। संसार में सामान्यतः खुशी क दो साधन है। कंचन और कामिनी। किन्तु कबीर दोनो के देखकर रोते है। प्रसन्नता की बात व्यर्थ है। दोनो को देखकर आग लगती है। विष चढ़ता है।

कहते है कबीर की पत्नी थी। बच्चे भी हुये थे। किन्तु सब बिना हँसे हुआ था। शायद यही कारण है। कि उनकी सन्तानोत्पत्ति कोलेकर एक दल रोता है। 'सतगुरू की संतान नही थी।' लोग झूठे ही उन पर संतान पैदा करने का आरोप लगाते है। ठीक भी है जो हँस नही

सकता वह संतान क्या पैदा करेगा। संतान प्रसन्नता की बात है। पुत्र को नन्द कहते है। नन्दलाल। नन्द आनन्द देता है। किन्तु कबीर के लाल भगवान है। वे उसी लाल को लाली देखते है। भूल से नन्दलाल होने की खुशी नही मनाते दुःखवादी स्त्री, पुरूष पति परिवार से परहेज करता है।[4]

बौद्ध शंकराचार्य ने भी संसार को दुःख और मिथ्या माना। सन्यास को प्रधान कर दिया। गेरूआ वाला संन्यासी पूज्य हो गया है। गृहस्थ की अपेक्षा सन्यासी महान है। क्योंकि सन्यासी संसार के दुःख से मुक्त है। उसने स्त्री पुत्र, पति, भाई, बन्धु, की ममता त्याग दी है। औरो पर इसका प्रभाव पड़ा है। तुलसीदास भी कहते है – ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी वह है जो ममता का त्याग कर दें। परिवार समाज और संसार की ममता। कबीर उसे जीवन मृत्यु कहते है। उनका आग्रह है कि जीते जी मरो मरने से जग डरता है। और कबीर को आनन्द आता है। मरना उनके प्रसन्नता की बात है। मरना बहादुरी की बात है। कायर नही मर सकता। वह तो पहले से मरा है।

कबीर नही हँसते तो कोई तो हँसेगा। काल हँसता है। संसारी जीवों के व्यवहार पर हँसता है। उनकी असावधानी पर हँसता है। ममता–मोह गफलत पर हँसता है। कबीर के बदले हँसता है। कबीर उसको जीतना चाहते है। कालजयी होना चाहते है। उसे कबीर के व्यवहार पर हँसना आता है। वह सावधान है। कितनों को खा गया। ऋषि, मुनि, पीर, दिगम्बर को खा गया। मनुष्य के उससे शिक्षा लेनी चाहिए। यद्यपि सभी काल के फाँस में फँसें है। मनुष्य बेधड़क घमू रहा था। इसीलिए काल हँसता है।

आनन्द केवल राम को पाने में है। यहाँ न सुख है, न दुःख। सुख–दुःख से अलग एक चीज है। इसे आनन्द कहते है। इसी आनन्द को पाने के लिए कबीर हँसी का बहिष्कार करते है। तिरस्कार करते है। हँसी तो साधन है। साध्य है। आनन्द है। कबीर साधन को छोड़कर सिद्धि और साध्य चाहते है। राह नही मंजिल। दुःख–सुख दोनो साधन है। राह है। मंजिल है आनन्द। इस आनन्द में न सुख है, न दुःख। वहाँ हंसी का सर्वथा अभाव है। उसका अनुभव गूँगे के गुड़ सा है। अकथनी, अवर्णनी है।[6]

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची</u> :–

1. राजा दुखिया परजा दुखिया तपसी के दुःखी दूना।
2. राणा राव रंक कौ न्याय करि–करि प्रीति सवाई।।
3. कबीर समग्र– पृ0– 109
4. कबीर समग्र– पृ0– 110
5. कबीर समग्र– पृ0– 111

दायभाग और मिताक्षरा: वर्तमान भारतीय न्यायिक व्याख्याओं का अध्ययन

ज्योति त्रिपाठी
शोध छात्रा

संस्कृत विभाग
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय),
प्रयागराज

डॉ प्रभात कुमार
शोध निर्देशक

सहायक आचार्य
संस्कृत विभाग
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय),
प्रयागराज

इस शोध पत्र में हिन्दू विधि के दो प्रमुख प्रमाणों। दायभाग और मिताक्षरा की संरचना, नीति तत्व, प्रवर्तमान न्यायिक व्याख्याओं का विश्लेषण करना मुख्य है। यह अध्ययन दोनों प्रमुख प्रम्परा की संरचना, परस्पेक्ष्याओं का तुलनता तथा समस्या करता है। इस शोध पात्र में चर्चित प्रस्ताव के साथ शलोकों का उल्लेख किया गया है ताकि सास्त्रीय ग्रंथों का चिन्तन किया जा सके।

दायभाग और मिताक्षरा की तुलनात्मक समझान करने के लिए अधिक पाठकों और जुदीशीय स्पष्ट को विश्लेषित किया जाये। भारतीय स्पर्धान और कानूनों की तुलनात्मक समझान करने के लिए इन दोनों स्कूल्स की विशेष को कला किया जाये। दोनों स्कूल्स के अनुसार में अनेक चार्यों की भूमिका पर चर्चा जाता है।

1–प्रस्तावना

भारत में उत्तराधिकार के संबंध में विभिन्न कालों में अलग–अलग विचारधाराएँ रही हैं। हिंदू उत्तराधिकार कानून मुख्यतः दो प्रमुख विधियों दृ दायभाग और मिताक्षरा दृ पर आधारित है। ये दोनों विधाएँ न केवल संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम निर्धारित करती हैं, बल्कि परिवार की संरचना और सामाजिक ताने–बाने को भी प्रभावित करती हैं।

प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रों, विशेषकर मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति और बृहस्पति स्मृति, में उत्तराधिकार से संबंधित अनेक नियम निर्धारित किए गए थे। समय के साथ, न्यायिक निर्णयों और विधायी सुधारों के कारण इन सिद्धांतों में बदलाव आया। मिताक्षरा विधि मुख्य रूप से संपूर्ण भारत में प्रचलित रही, जबकि दायभाग विधि विशेष रूप से बंगाल, उड़ीसा और असम में प्रभावी रही।

भारतीय न्यायपालिका ने भी समय–समय पर इन विधानों की व्याख्या की है, जिससे उनके व्यवहारिक और कानूनी पहलुओं को समझने में सहायता मिलती है।

2 शोध की पृष्ठभूमि

भारत में उत्तराधिकार से जुड़े कानूनों का एक लंबा और जटिल इतिहास रहा है। प्राचीन काल में, उत्तराधिकार के नियम धर्मशास्त्रों और आचार संहिताओं द्वारा नियंत्रित होते थे। समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली के प्रभाव के कारण, संपत्ति का वितरण भी परिवार की संरचना के अनुसार निर्धारित किया जाता था। मिताक्षरा विधि के अनुसार, संयुक्त परिवार के सदस्य पैतृक संपत्ति में जन्म से ही अधिकार प्राप्त करते हैं। वहीं, दायभाग विधि व्यक्तिगत संपत्ति के स्वामित्व को अधिक प्राथमिकता देती है और उत्तराधिकार में मृत्यु के बाद संपत्ति के वितरण की अवधारणा को अपनाती है।

ब्रिटिश शासन के दौरान, भारतीय न्यायिक प्रणाली में कई परिवर्तन हुए। ब्रिटिश अदालतों ने विभिन्न हिंदू विधियों को संहिताबद्ध करने का प्रयास किया, जिससे इन दोनों विधानों की न्यायिक व्याख्या और अधिक सुस्पष्ट हुई। स्वतंत्रता के बाद, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 लागू किया गया, जिसने उत्तराधिकार से जुड़े कई जटिल मुद्दों को हल करने का प्रयास किया।

3 उद्देश्य और महत्त्व

इस शोध का मुख्य उद्देश्य दायभाग और मिताक्षरा विधियों की विस्तृत व्याख्या करना और यह समझना है कि भारतीय न्यायपालिका ने इन दोनों सिद्धांतों को किस प्रकार व्याख्यायित किया है। इस अध्ययन के माध्यम से निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया जाएगाः

1) दायभाग और मिताक्षरा विधियों की उत्पत्ति और ऐतिहासिक विकास क्या है?
2) दोनों विधाओं में संपत्ति के उत्तराधिकार को लेकर क्या प्रमुख अंतर हैं?
3) भारतीय न्यायालयों ने समय–समय पर इन सिद्धांतों की व्याख्या किस प्रकार की है?
4) क्या आधुनिक भारतीय समाज में इन दोनों विधाओं का प्रभाव अभी भी बना हुआ है?
5) महिलाओं के उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों पर इन विधियों का क्या प्रभाव पड़ता है?

इस शोध का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि यह न केवल कानूनी और न्यायिक दृष्टिकोण से बल्कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी दायभाग और मिताक्षरा विधियों के प्रभावों का

विश्लेषण करता है। भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में संपत्ति और उत्तराधिकार के नियमों का अध्ययन करना सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण कदम है

4 हिंदू उत्तराधिकार और इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हिंदू उत्तराधिकार कानून के विकास में धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति आदि ग्रंथों में उत्तराधिकार संबंधी नियमों का उल्लेख मिलता है। प्रारंभिक काल में संपत्ति का उत्तराधिकार केवल पुरुषों को ही प्राप्त था, परंतु समय के साथ–साथ सामाजिक एवं कानूनी सुधारों के तहत महिलाओं को भी संपत्ति में अधिकार प्रदान किया गया।

ब्रिटिश शासनकाल में हिंदू विधि के विविध पहलुओं का गहराई से अध्ययन किया गया और 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में इसे कोडिफाइड करने का प्रयास किया गया। 1956 में हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम पारित किया गया, जिसने संपत्ति के विभाजन एवं उत्तराधिकार से संबंधित कई परंपरागत मान्यताओं को परिवर्तित किया। विशेष रूप से, इस अधिनियम ने महिलाओं को पैतृक संपत्ति में समान अधिकार प्रदान करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया।

5 दायभाग और मिताक्षरारू एक तुलनात्मक अध्ययन

इस खंड में, हम दोनों विधियों की तुलना उनके मूलभूत सिद्धांतों, व्याख्याओं, सामाजिक प्रभावों, और न्यायिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर करेंगे।

6 मिताक्षरा विधि

मिताक्षरा हिंदू उत्तराधिकार विधि की एक प्रमुख शाखा है, जिसे संपूर्ण भारत में व्यापक रूप से अपनाया गया है। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें संयुक्त परिवार की अवधारणा को केंद्र में रखा गया है।

7 मिताक्षरा विधि की उत्पत्ति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मिताक्षरा विधि का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति और मनुस्मृति में मिलता है। इस विधि को न्यायशास्त्र के दृष्टिकोण से व्याख्या करने का कार्य विख्यात विद्वान विज्ञानेश्वर ने किया। उन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'मिताक्षरा' नामक टीका लिखी, जो इस विधि का मूल आधार बनी।

8 प्रमुख सिद्धांत

- जन्म से संपत्ति अधिकार –मिताक्षरा के अनुसार, संयुक्त हिंदू परिवार में जन्म लेने वाले प्रत्येक पुरुष सदस्य क पैतृक संपत्ति में जन्म से ही अधिकार मिल जाता है।
- सहखातित्व – मिताक्षरा विधि में संयुक्त परिवार के सभी पुरुष सदस्य पैतृक संपत्ति में समान रूप से हिस्सेदार होते हैं।

- पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार दृ यह विधि पितृसत्तात्मक परंपरा पर आधारित है, जिसमें संपत्ति का हस्तांतरण मुख्यतः पुरुष सदस्यों के माध्यम से होता है।
- संपत्ति का विभाजन दृ परिवार में संपत्ति का विभाजन सहधार्मिक उत्तराधिकारियों के बीच होता है, और इसमें प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार प्राप्त होते हैं।

9 प्रमुख न्यायिक निर्णय

- गुरुनाथ बनाम कमलाबाई (1955) दृ इस निर्णय में संयुक्त हिंदू परिवार की संपत्ति पर अधिकार की परिभाषा स्पष्ट की गई।
- प्रकाश बनाम फूलवती (2016) दृ इस निर्णय में महिलाओं को उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों पर प्रकाश डाला गया।
- दानम्मा बनाम अमर (2018) दृ इस निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2005 के तहत महिलाओं को भी उत्तराधिकार में बराबर का अधिकार प्राप्त होगा।

10 दायभाग विधि

दायभाग विधि मुख्यतः बंगाल, असम, उड़ीसा और बिहार में प्रचलित है। यह विधि व्यक्ति की मृत्यु के बाद संपत्ति के वितरण के सिद्धांत पर आधारित है।

दायभाग विधि मुख्यतः बंगाल, असम, उड़ीसा और बिहार में प्रचलित है। यह विधि व्यक्ति की मृत्यु के बाद संपत्ति के वितरण के सिद्धांत पर आधारित है।

11 दायभाग विधि की उत्पत्ति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रमुख सिद्धांत

- उत्तराधिकार का सिद्धांत – दायभाग के अनुसार, किसी व्यक्ति की संपत्ति का उत्तराधिकार उसके जीवनकाल में नहीं बल्कि मृत्यु के बाद निर्धारित किया जाता है।
- व्यक्तिगत संपत्ति पर स्वामित्व – इसमें संपत्ति का पूर्ण स्वामित्व स्वामी के हाथ में होता है और उत्तराधिकारी तभी अधिकार प्राप्त करते हैं जब स्वामी की मृत्यु हो जाती है।
- सहखातित्व की अनुपस्थिति – इसमें पैतृक संपत्ति में जन्म से अधिकार प्राप्त नहीं होता, बल्कि उत्तराधिकार मृत्यु के उपरांत लागू होता है।
- पुत्री और विधवा का अधिकार –दायभाग विधि में महिलाओं को उत्तराधिकार में अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह विधि मृत्यु के उपरांत संपत्ति वितरण को प्राथमिकता देती है।

प्रमुख न्यायिक निर्णय

- शारदा देवी बनाम हरनारायण सिंह (1983) दृ इस मामले में दायभाग विधि के तहत संपत्ति अधिकारों की व्याख्या की गई।
- रघुनंदन प्रसाद बनाम सत्यव्रत (2002) दृ इस निर्णय में दायभाग और मिताक्षरा के बीच भेद को स्पष्ट किया गया।
- गोविंदराज बनाम लक्ष्मी (2011) दृ इस निर्णय में यह स्पष्ट किया गया कि दायभाग विधि महिलाओं को भी संपत्ति में उचित अधिकार प्रदान करती है।

तुलनात्मक अध्ययन

तत्व	मिताक्षरा विधि	दायभाग विधि
संपत्ति में अधिकार	जन्म से ही	मृत्यु के बाद
संयुक्त परिवार की अवधारणा	प्रमुख	कम
महिलाओं का अधिकार	सीमित (संशोधन से सुधरा)	अपेक्षाकृत अधिक
व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा	कम	अधिक
संपत्ति वितरण का आधार	सहखातित्व	उत्तराधिकार
प्रचलन क्षेत्र	संपूर्ण भारत (कुछ अपवाद)	बंगाल, उड़ीसा, असम

वर्तमान परिप्रेक्ष्य और न्यायिक दृष्टिकोण

भारत में हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के लागू होने के बाद इन दोनों विधियों में कई परिवर्तन आए। 2005 के संशोधन के बाद, महिलाओं को उत्तराधिकार में बराबर का अधिकार प्रदान किया गया। न्यायपालिका ने भी समय–समय पर इन विधियों की व्याख्या की और उनके सामाजिक प्रभावों को समझते हुए निर्णय दिए।

न्यायिक व्याख्याएँ और अदालती दृष्टिकोण

भारतीय न्यायालयों ने विभिन्न मामलों में दायभाग एवं मिताक्षरा प्रणालियों की व्याख्या करते हुए कई महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं। उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों ने संपत्ति के अधिकारों से संबंधित कई मामलों में सामाजिक न्याय एवं लैंगिक समानता को ध्यान में रखते हुए निर्णय लिए हैं। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 2005 में संशोधन के बाद महिलाओं को पैतृक संपत्ति में समान अधिकार प्रदान किए गए, जो न्यायपालिका के दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत है।

निष्कर्ष

दायभाग और मिताक्षरा प्रणाली हिंदू उत्तराधिकार कानून के दो महत्वपूर्ण स्तंभ हैं, जो विभिन्न कानूनी परिप्रेक्ष्यों में अलग–अलग भूमिका निभाते हैं। आधुनिक न्यायिक प्रणाली ने इन दोनों प्रणालियों में संतुलन स्थापित करने एवं समाज में न्याय एवं समानता सुनिश्चित करने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में, लैंगिक समानता एवं संपत्ति के न्यायसंगत वितरण को ध्यान में रखते हुए न्यायपालिका एवं विधायिका दोनों ने महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं।

यह शोध पत्र इन दोनों प्रणालियों का गहन अध्ययन करने, उनकी न्यायिक व्याख्याओं को समझने एवं आधुनिक संदर्भ में उनके प्रभावों का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :–

- मनुस्मृति, गणेश दत्त पाठक, प्रकाशक रुपेश ठाकुर प्रसाद वाराणसी।
- याज्ञवल्क्य, डॉ गंगा सागर राय, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत वाराणसी।
- नारद स्मृति, प्रतिष्ठान, दिल्ली।
- मिताक्षरा, पंडित रतं गोपाल भट्ट,प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत वाराणसी।
- दायभाग, प्रो० डॉ० जयकृष्ण मिश्र, प्रकाशक, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी वाराणसी।

मौर्य साम्राज्य की उन्नति में अर्थव्यवस्था का योगदान

देवेन्द्र कुमार सिंह

शोध छात्र
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृत विभाग,
तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
जौनपुर, उत्तर प्रदेश

डॉ॰सिद्धार्थ सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष)
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृत विभाग,
तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
जौनपुर, उत्तर प्रदेश
संबद्धः वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विष्वविद्यालय, जौनपुर, उत्तर प्रदेश

शोध सार –

प्राचीन काल में मौर्य साम्राज्य का भारत के एकीकरण में अमूल्य योगदान रहा है। नंद वंष का अंत करके अपने गुरू चाणक्य की सहायता से अखंड भारत का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर सम्राट अशोक तक सभी ने भारत के विकास, नगरीकरण एवं एकीकरण में अपना अमूल्य योगदान दिया। मौयकाल में भारत की अर्थव्यवस्था एवं व्यापार भारत के साथ विश्व के अनेक देशों के साथ होता था। मौर्यकाल में अर्थव्यवस्था बहुत ही सुदृढ थी। मौर्य साम्राज्य की अर्थव्यवस्था को समझने के लिए प्रमुख स्त्रोत मेगस्थनीज की इंडिका है, जो सेल्यूकस का दूत बनकर चन्द्रगुप्त मौर्य के राज दरबार में आया था। दूसरा सम्राट अशोक के शिलालेख जो साम्राज्य के बड़े भाग में प्रमुख स्थानो पर खुदवाये गये थे और तीसरा कौटिल्य का अर्थशास्त्र जो राजनीतिक सत्ता के आर्थिक हितों का प्रवक्ता है। कृषि और कृषि क्षेत्र से प्राप्त राजस्व उनकी अर्थव्यवस्था के आधार थे। मौर्य साम्राज्य में गैर–कृषि क्षेत्र से भी संसाधन प्राप्त किये जाते थे। मौर्य काल में व्यापार के प्रचार–प्रसार और दूरदराज के क्षेत्रों के बीच संपर्को की स्थापना के कारण व्यापार में वृद्धि हुई। कर लगाना मौर्यों के लिए संसाधन जुटाने का एक महत्वपूर्ण उपाय था।

कूट शब्द –

चन्द्रगुप्त मौर्य, कौटिल्य, व्यापार, वाणिज्य, अर्थव्यवस्था, मेगस्थनीज, अर्थषास्त्र, इंडिका, अभिलेख, कृषि, पशुपालन, अकाल, कर, भूमि, नदियाँ, स्थल, अशोक।

प्रस्तावना –

मौर्यकाल में आर्थिक अवस्था बड़ी सुदृढ थी जिससे मौर्यकाल में लोगों का जीवन खुषहाल हो सका। "राज्य की अर्थव्यवस्था कृषि, पषुपालन, षिल्प व्यापार और वाणिज्य पर आधारित थी। इनको सम्मिलित रूप से 'वार्ता' कहा गया है अर्थात् वृत्ति का साधन।"[1] कृषि का योगदान इन व्यवसायों में प्रमुख था। मौर्यकाल में अधिकतर लोग कृषि कार्य करते थे। अच्छे जनपद का उल्लेख करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि भूमि कृषि योग्य होनी चाहिए। वह 'अदेव मात्रक' हो अर्थात् भूमि ऐसी होनी चाहिए कि उसमें वर्षा के बिना भी अच्छी खेती हो सके। मेगस्थनीज के अनुसार भूमि पषुओं के निर्वाह योग्य होने के साथ अन्य खाद्य पदार्थ को पैदा करने वाली हो क्योंकि भारत में दो बार वर्षा होती है, इसलिए यहाँ दो फसलें उगाई जाती हैं। देष के मैदानो में प्रायः ऐसी स्थिति रहती है जो भूमि को समान रूप से उपजाऊ बनाए रखती हैं। मेगस्थनीज ने इस बात को कई बार कहा है शत्रु, अपनी भूमि पर कार्य करने वाले किसानों को हानि नही पहुँचाता है क्योंकि किसान सर्वसाधारण द्वारा हितकारी माने जाते हैं इसलिए हानि से बचाया जाता है।

'डॉ॰ जी॰ एम॰ बोनगार्डलेविन' ने लिखा है कि "मौर्यकाल में कृषि, शिल्प और व्यापार में वृद्धि हुई जिससे लोहे का प्रयोग भी बढ़ा और नये–नये नगर भी स्थापित हुए।"[2] मौर्यकाल राजनीतिक एकता स्थापित होने के कारण अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक वृद्धि हुई। लोगों की रूचि आर्थिक मामलों में बढी। कौटिल्य ने आर्थिक मामलों को बहुत अधिक महत्व दिया है। कृषकों की संख्या बहुत अधिक थी और उन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त था। राज्य की भूमि पर दासों, कर्मकारों और कैदियों द्वारा जुताई–बुआई करायी जाती थी। दासों और कर्मकारों को भोजन आदि दिया जाता था। काम के बदले नगद मासिक वेतन आदि भी दिया जाता था। मेगस्थनीज, स्ट्रबों, एरियन इत्यादि यूनानी लेखकों के अनुसार समस्त भूमि राज्य की होती थी। "वे राजा के लिए खेती करते थे और 1/4 भाग राजा को लगान देते थे। यूनानी लेखकों का अभिप्राय राजकीय भूमि से है जो किसानो को बटाई पर दी जाती थी। कौटिल्य के अनुसार यदि किसान अपने बीज, बैल और हथियार साथ लाए तो उपज के 1/2 भाग के अधिकारी थे। यदि कृषि उपकरण राज्य द्वारा दिए जाँए तो वे 1/4 या 1/3 भाग के अधिकारी थे। खेती हल और बैल से की जाती थी। उपज को बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था। किसानों के उपर नियामक अधिकारी, समाहर्ता, स्थानिक तथा गोप होते थे, जो गावों की भूमि तथा अन्य प्रकार की संपत्ति के आकड़े तथा लेखा रखते थे। "मौर्यकाल में वस्तुओं के मूल्य सरकार द्वारा निश्चित किये जाते थे।"[3] राज्य की भूमि की व्यवस्था सीताध्यक्ष की होती थी और उससे होने वाली आय को कौटिल्य

ने सीता कहा है। "अर्थशास्त्र में क्षेत्रक (भूस्वामी) तथा उपवास (काश्तकार) के बीच स्पष्ट अंतर दिया गया है।"[4] कौटिल्य के अनुसार खाद के लिए घी, शहद, चर्बी, मछलियों का चूरा, गोबर, राख आदि का प्रयोग होता था। कृषि के विकास के लिए राज्य सिंचाई का उचित प्रबन्ध करता था। इसे सेतुबन्ध कहते थे, जिसके अन्तर्गत तलाब, कुँए तथा झीलों पर बाँध बनाकर पानी को एक स्थान पर एकत्र किया जाता था। जूनागढ अभिलेख में लिखा है कि मौर्यकाल में सौराष्ट्र के किसानों को सिचाई की सुविधा देने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रांतीय शासक पुष्पगुप्त के द्वारा सुदर्शन झील के बाँध का निर्माण सेतुबन्ध का एक उदाहरण है। इस झील से नहरें निकाली गई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नदियाँ, नहरें, डोल वाले कुएँ, बैलों द्वारा खींचे जाने वाले रैहट वाले कुएँ आदि सिंचाई के अनेक साधनों का वर्णन मिलता है।

मौयकाल में भारत की अर्थव्यवस्था एवं व्यापार भारत के साथ विश्व के अनेक देशों के साथ होता था। मौर्य साम्राज्य की अर्थव्यवस्था को समझने के लिए प्रमुख स्त्रोत मेगस्थनीज की इंडिका है, जो सेल्यूकस का दूत बनकर चन्द्रगुप्त मौर्य के राज दरबार में आया था। दूसरा सम्राट अशोक के शिलालेख जो साम्राज्य के बड़े भाग में प्रमुख स्थानो पर खुदवाये गये थे और तीसरा कौटिल्य का अर्थशास्त्र जो राजनीतिक सत्ता के आर्थिक हितों का प्रवक्ता है। कृषि और कृषि क्षेत्र से प्राप्त राजस्व उनकी अर्थव्यवस्था के आधार थे।

"मेगस्थनीज ने लिखा है कि मौर्य सरकार व्यापारियों को जहाज किराये पर देती थी।"[5] भारत में दुर्भिक्ष (अकाल) नही पड़ते थे, किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट वर्णन है कि दुर्भिक्ष पड़ते थे और दुर्भिक्ष के समय राज्य द्वारा जनता की भलाई के लिए अनेक उपाय किए जाते थे। जैन अनुश्रति में वर्णित है कि मगध में 12 साल का एक भयंकर दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ा था। सोहगोरा और महास्थान अभिलेख में अकाल के समय राज्य द्वारा राज्य–कोष्ठागार से अनाज वितरण का वर्णन मिलता है। अर्थषास्त्र के अनुसार भूमि अपने संबन्धियों को ही बेची जा सकती थी, दूसरे गाँव के व्यक्ति को नही बेची जा सकती थी। राजा को भूमि की उपज का एक भाग लेने या छोड़ने का अधिकार था। अषोक ने भूमिकर के रूप में लुम्बिनी ग्राम की उपज के 1/4 भाग के स्थान पर 1/8 भाग लेने और किसी प्रकार का कर ना लेने की घोषणा की थी। मौर्य काल में राजनीतिक एकता तथा शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के नियंत्रण से शिल्पों को प्रोत्साहन मिला। प्रषासनिक सुधार के साथ व्यापार की सुविधा और व्याापार का पोषण करने शिल्पों ने छोटे–छोटे उद्योगों का रूप ले लिया। मेगस्थनीज ने शिल्पियों को चौथी जाति का माना है। उनमें से कुछ राज्य का कर देते थे और नियत सेवाएं भी करते थे। मेगस्थनीज ने जहाज बनाने वाले, कवच तथा आयुध बनाने वाले और खेती के लिए अनेक औजार बनाने वालों का उल्लेख किया है। खानों और जंगलों से प्राप्त धातु तथा लकड़ी से राज्य अनेक प्रकार के उद्योगों का संचालन करता था। वस्त्र उद्योग भी राज्य द्वारा संचालित होता था।

अर्थशास्त्र में गो–अध्यक्ष का उल्लेख है। उस समय पशुओं की चोरी इतनी अधिक होती थी कि "कौटिल्य ने लिखा है कि पशुओं की चोरी करने वालों को मृत्युदंड देना चाहिए।"[6] अर्थशास्त्र में वर्णन है कि अच्छे ग्वालों को गायों के रोगों की और उनकी चिकित्सा का ज्ञान होना चाहिए। कौटिल्य ने पशुओं की रक्षा का विस्तृत वर्णन किया है। मेगस्थनीज ने वर्णन किया है कि हाथियों और घोड़ों पर राजा का एकाधिकार था। कौटिल्य ने वनों की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया है। शिकार के वन, हाथियों के वन और खाल, हड्डी, दाँत, सींग आदि देने वाले वन। कौटिल्य ने कई प्रकार के व्यवसायों का वर्णन किया है, इनमें प्रमुख उद्योग सूत कातने और बुनने का था। इसमे सबसे मुख्य व्यवसायी बुनकर थे। वे रूई, रेशम, सन, ऊन आदि से कई प्रकार के कपड़े बनाते थे। धोबियों, रंगरेजों और दर्जियों का अर्थव्यवस्था में वर्णन है। इसके अलावा कई और व्यवसाय थे। लवनाध्यक्ष के निरीक्षण में नमक का व्यवसाय था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि काशी, वंग, पुण्ड्र, कलिंग, मालवा सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। काशी और पुण्ड्र में रेशमी वस्त्र भी बनते थे। प्रचीन काल में वंग का मलमल विश्व प्रसिद्ध था। चीन पट्ट का वर्णन अर्थशास्त्र में है जिससे पता चलता है कि रेशम चीन से आता था। मेगस्थनीज ने भारतीय वस्त्रों की बहुत प्रशंसा की है। सरकारी कारखानों के अलावा बुनकर स्वतंत्र रूप से भी कार्य किया करते थे।

मौर्यकाल में भारत के विभिन्न राज्यों को एकता के शासन सूत्र में बाँधने से व्यापार को बढ़ावा मिला। प्रशासनिक और सैनिक आवश्यकता के कारण यातायात के मार्ग में वृद्धि होने से मार्गों की सुरक्षा को बढ़ावा मिला। इस समय आन्तरिक और वाह्य व्यापार दोनो अच्छी अवस्था में थे। "भारत का व्यापार चीन, सीरिया, मिश्र, यूनान, नेपाल से और मोती ईरान से आयात होता था।"[7] भारत से मिश्र को हाथी के दांत, नील, मोती और विशेष प्रकार की लकड़ी निर्यात होती थी। भरत में मीठी शराब पश्चिम के देशों से आती थी। कृषि एवं उद्योग के लिए वस्तुएँ देश के विभिन्न भागों में एक जगह से दूसरी जगह आराम से पहुँच जाती थी। प्रत्येक बंदरगाह का प्रबंध एक अध्यक्ष के हाथ में था। आंतरिक व्यापार नदियों के माध्यम से होता था। व्यापारिक लेन–देन सिक्कों द्वारा होता था। मौर्यकाल में आंतरिक व्यापार बहुत ही उन्नत अवस्था में था। बनारस के नीचे गंगा तथा ब्रह्मपुत्र का बहुत महत्व था। व्यापार जल–स्थल दोनों मार्गों से होता था। सौदागर व्यापार के लिए बड़े–बड़े काफिले (सार्थवाह) आते–जाते थे। इन काफिलों की सुरक्षा का दायित्व राज्य का था। काफिले के प्रत्येक व्यापारी से राज्य मार्ग कर वसूलता था और उनकी रक्षा करता था।

उस समय विदेश व्यापार भी उन्नत था। वह स्थल मार्ग और समुद्र के रास्ते बड़ी–बड़ी नौकाओं के माध्यम से होता था। अर्थशास्त्र में चीन तथा ईरान की व्यापारिक वस्तुओं का वर्णन है। समुद्री व्यापार पश्चिम के देशों से भी होता था। वह व्यापार मुख्य रूप से मिश्र के साथ होता

था। उत्तर–पश्चिम भाग यूनानियों के नियंत्रण से मौर्यों के अधिकार में आ गया। दक्षिण विजय से दक्षिण–पश्चिम व्यापारिक मार्ग पर मौर्यों का अधिकार हो गया। कलिंग विजय से पूर्वी और दक्षिण–पूर्व व्यापार मार्ग निष्कंटक हो गया। मेगस्थनीज के वर्णन से स्पष्ट होता है कि मार्ग निर्माण का एक विशेष अधिकारी था जो एग्रोनोमोई कहलाता था। वो सड़कों की देखरेख करता था। "महावग्ग से ज्ञात होता है कि प्रत्येक जनपद सड़कों की देखभाल करता था और नदियों को पार करने के लिए नौकाएं उपलब्ध रहती थी।"[8] साम्राज्य के राजमार्गों में उत्तर–पश्चिम को पाटलीपुत्र से जोड़ने वाला राजमार्ग था। मेगस्थनीज ने इसकी लंबाई 1300 मील बताई है। कही–कही इसकी लंबाई 1500 कोस बताई गई है। पाटलीपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व–पश्चिम सभी दिशाओं में सड़कें जाती थी। "आधे–आधे कोस के बाद सड़कों पर दूरी सूचक पत्थर लगे हुए थे।"[9] जिस स्थान पर अनेक मार्ग मिलते थे, वहाँ प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने के संकेत चिन्ह लगे रहते थे। "पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश की राजधानी को पाटलीपुत्र से मिलाने वाली सड़क की लम्बाई 1500 कोस थी।"[10] यह मार्ग पाटलीपुत्र से आगे ताम्रगिति (तामलूक) तक जाता था। "अशोक ने यात्रियों की सुविधा के लिए राजमार्ग के निकट विश्राम गृह बनवाये थे।"[11]

कौटिल्य के अनुसार हिमालय की ओर जाने वाले मार्ग की तुलना में दक्षिण को जाने वाला मार्ग अधिक लाभप्रद था क्योंकि दक्षिण से व्यापार की बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे हीरा, सोना, मुक्ता, मणि, शंख इत्यादि आते थे। दक्षिण के लिए एक पुराना मार्ग श्रावस्ती से गोदावरी के तटवर्ती नगर प्रतिष्ठान तक जाता था। इस मार्ग को संभवतः उत्तरी मैसूर तक आगे बढ़ाया गया। कृष्णा, गोदावरी और तुंगभद्रा के किनारे होते हुए कई मार्ग व्यापार और सैनिक कार्यों के लिए बनाये गये होंगे। उत्तर की ओर एक मार्ग चम्पा से बनारस और सहजाति तक और वहाँ से यमुना के किनारे–किनारे कौशाम्बी तक जाता था। उसके बाद स्थल मार्ग से कौशाम्बी से सिन्धु–सौबीर तक व्यापार मार्ग जाता था। एक तीसरा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। पष्चिम तट पर समुद्री मार्ग भड़ौच (भृगुकच्छ) और काठियावाड़ से होकर लंका तक जाता था। पश्चिमी तट पर सोपारा भी प्रमुख बन्दरगाह था। पूर्व में कई जहाज बंगाल में ताम्रलिप्त से चलकर पूर्वी तट के अनेक बन्दरगाहों से होते हुए श्रीलंका तक पहुँचते थे। रोमिला थापर के अनुसार अषोक द्वारा कलिंग विजय का एक कारण व्यापार की दृष्टि से कलिंग का महत्व था। महानदी और गोदावरी के बीच स्थित होने के कारण बंगाल और दक्षिण का व्यापार सुरक्षित नही था।

कौटिल्य के अनुसार जो व्यापार स्थल मार्ग से होता है उसकी अपेक्षा नदी मार्गों द्वारा किया गया व्यापार अधिक सुरक्षित माना जाता था क्योंकि इस मार्ग में चोर–डाकुओं का भय कम रहता था। नदियों से व्यापार स्थाई नही था। "वाराणसी से अधितर व्यापारी स्थल मार्ग से न

जाकर नदियों के मार्ग से ही जाते थे।"[12] स्थल मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थी, चोर–डाकुओं और जंगली जानवरों से विषेष भय रहता था। मरूस्थल की यात्रा अत्यन्त कठिन होती थी। मौर्यकाल में खतरों और कठिनाइयों के कारण व्यापारी बड़े काफिले में संगठित होकर एक जगह से दूसरे जगह जाते थे। व्यापारियों को राज्य द्वारा यातायात और सुरक्षा संबन्धी अनेक सुविधाएं प्रदान की जाती थी। इसके बदले सरकार व्यापारियों से शुल्क लेती थी। मार्ग में व्यापारियों का नुकसान हो जाने पर राज्य उनका घाटा पूरा करता था। अन्तर्देशीय व्यापार की भाँति ही स्थल और जलमार्ग से विदेशों के साथ व्यापार को मौर्यों के सुसंगठित शासन से लाभ प्राप्त हुआ। यूनानी शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध के कारण पश्चिम एशिया और मिश्र के साथ भारत के व्यापार को अनुकूल वातावरण मिला। एक मुख्य स्थल मार्ग तक्षशिला से काबुल, बैक्ट्रिया और वहाँ से पश्चिमी देशों की ओर जाता था। "अत्यधिक लाभ की आशा में ही व्यापारी मार्ग के संकटों का सामना करते थे।"[13]

समुद्री मार्ग भारत के पश्चिमी समुद्र तट से फारस की खाड़ी होते हुए अदन तक जाता था। भारत और मिश्र से आने वाली व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय अरब सागर के तटवर्ती बन्दरगाहों पर होता था। भारत से मिश्र को हाथी दाँत, मोती, नील, रंग, सीपियाँ, कछुएं एवं कीमती लकड़ी का निर्यात होता था। प्रजा के हित का ध्यान रखने के लिए व्यापारियों और शिल्पियों पर सरकार का नियंत्रण रहता था। व्यापारियों को आदेश था कि संस्थाध्यक्ष की अनुमति के बिना न तो बंधक रखा जा सकता था और न ही बेच सकते थे। लोहे के प्रयोग से जंगलो को काटने और हल चलाने में बहुत सहायता मिली। "इस काल में लोहे के उपकरणों का प्रयोग खूब बढ़ा।"[14] कृषि के उन्नती से अधिक वस्तुएँ पैदा होने लगी, जिससे लोगो के जीवन में खुशहाली आई। वस्तुओं के अधिक उत्पादन के कारण आंतरिक और बाह्य (विदेशी) व्यापार में बढोत्तरी हुई। अधिक से अधिक लोग नगरों में आकर बस गये जिससे नगरों में भीड़–भाड़ और चहल–पहल बढ़ गई। माप तौल का हर चौथे माह निरीक्षण होता था, कम तौलने वाले को दंड दिया जाता था। लाभ की दर निश्चित थी। मेगस्थनीज का कहना है कि बिक्री कर न देने वाले को मृत्युदंड दिया जाता था। जिससे लोगो में भय बना रहे और वे चोरी न करें। मंडियों के पास वाराणसी, चम्पा, श्रावस्ती, उज्जैन, राजगृह, साकेत, कुशीनगर और कौशाम्बी आदि बड़े–बड़े नगर (शहर) बस गये थे। कई प्रकार के कारीगर उन नगरों में आकर रहने लगे थे।

व्यापारिक मंडियाँ जैसे–जैसे बढ़ती गई वैसे–वैसे नए नगर बसते गये और चन्द लोगों के हाथें में बहुत–सा धन आ गया। ये नगर कई राज्यों की राजधानी बन गये। अधिकतर नये शहर नई योजना के साथ बसाए जाते थे किन्तु तक्षशिला की गलियाँ बहुत टेढ़ी–मेढ़ी और तंग थी। नये नगरों के बसने के कारण लोगों के दृष्टिकोंण में बदलाव आया। जो लोग पहले शहरों की निंदा करते थे अब वही लोग उसकी प्रशंसा करने के साथ–साथ नगरों को महत्व देने लगे।

मौर्यकाल में उत्तर, उत्तर–पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के विहंगम क्षेत्र में नगरीकरण, संस्कृति एवं व्यापार का विकास हो गया था। उत्तर–पष्चिम में उदेग्राम, कंधार, तक्षशिला आदि स्थलों को लेकर पूर्व में चन्द्रकेतुगढ़ तक, उत्तर में रोपड़, तिलौराकोट, श्रावस्ती और हस्तिनापुर से लेकर दक्षिण में छब्रोली, बह्मपुरी आदि तक इस संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। संस्कृत एवं पाली ग्रंथों में श्रावस्ती, अयोध्या, कौशाम्बी, वाराणासी, पाटलीपुत्र, राजगीर, कपिलवस्तु, वैशाली आदि जिन नगरों का वर्णन मिलता है, वे सभी मौर्यकाल में पर्याप्त पल्लवित अवस्था में थे।

अनेक शहर प्रशासन के केन्द्र थे परन्तु इस बात से इंकार नही किया जा सकता कि ऐसे कई नगर थे जो प्रसिद्ध व्यापार मार्गों पर स्थित थे। भारतीय इतिहास में नगरीकरण का जो दूसरा चरण बौद्धकाल में शुरू हुआ, उसके पल्लवीकरण में मौर्ययुगीन व्यापारियों और षिल्पियों ने बहुत योगदान दिया। मौर्यकाल में अर्थव्यवस्था को बढ़ाने में श्रेणियों ने बहुत योगदान दिया। उस समय व्यापारियों और वस्तुएँ बनाने वालों की अलग–अलग श्रेणियाँ थी। श्रेणियों का एक अध्यक्ष होता था, उसका पद पैतृक था। अध्यक्ष का श्रेणी के सदस्यों पर पूरा अधिकार था। शहरों की श्रेणियों के सदस्यों को कर देना होता था किन्तु गाँवों के श्रेणी को कर से छूट थी। श्रेणियों को इतनी छूट थी कि उनका ध्यान राजा को स्वयं रखना पड़ता था। "मौर्यकाल में पंजाब में अनेक व्यापारिक नगर थे जैसे कि सरकप और शाकल। इस काल में पंजाब के व्यापारी पूर्वी अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक व्यापार करते थे।"[15]

निष्कर्ष –

मौर्यकाल में साम्राज्य के एकीकरण के साथ व्यापार एवं अर्थव्यवस्था के विकास की ओर ध्यान दिया गया। मौर्य साम्राज्य के विकास में अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण ने बहुत योगदान दिया। समुद्र मार्ग एवं स्थल मार्ग से व्यापार को बढ़ावा मिला। व्यापार बढ़ने से नए–नए नगरों का उदय हुआ। विदेश व्यापार से भारत में अकूत धन संग्रह हुआ जिससे सड़कों का निर्माण हुआ। कर संग्रह को सुदृढ करने से सरकारी कोष भी बढ़ा। एक दूसरे से मिलने के कारण संस्कृतियों का आदान–प्रदान हुआ जो मौर्य साम्राज्य को नई ऊँचाई पर ले गया। महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों पर कब्जा होने से व्यापार मौर्यों के पक्ष में होता था। कृषि, शिल्प एवं यातायात के विकास से जनता एवं साम्राज्य का विस्तार और उन्नति हुई। मौर्यों ने पूरे भारत को एकता के सूत्र में बाधँ दिया था, जो उसकी उन्नती सहायक सिद्ध हुआ।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :–

1. झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली कृष्ण मोहन – प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी निदेशालय,नईदिल्ली,1992,पृष्ठ 199।
2. पाण्डेय, आर॰ एन॰–प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास,प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद,2003,पृष्ठ 171।

3. कौटिल्य – अर्थशास्त्र, 2,16; 2, 21।
4. वही, द्वितीय अधिकरण।
5. स्ट्रेबो – 15,1,46 ।
6. कौटिल्य – अर्थशास्त्र, 2,29।
7. श्रीवास्तव, के॰ सी॰ – प्राचीन भारत का इतिहास, यूनाइटेड बुक इलाहाबाद, 1991, पृष्ठ 233।
8. महावग्ग – 3, 20।
9. स्ट्रेबो – 15,1,5।
10. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, एस॰ चन्द्र एण्ड कम्पनी लि॰, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 337।
11. शिलालेख – 2, स्तम्भलेख, 7।
12. जातक – 4,15,17।
13. वही, 1,107।
14. शर्मा, रामषरण – प्राचीन भारत, NCERT– नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 146।
15. प्रकाश, ओम–प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाषन, नईदिल्ली,2016, पृष्ठ162, द्वितीय खण्ड।
16. मोतीचन्द्र – सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, संस्करण 1953, पृष्ठ 12।
17. थापर॰ रोमिला – अषोक एण्ड दि डेक्लाइन आफ मौर्याज, पृष्ठ 143।
18. वाचपेयी, के॰ डी॰ – भारतीय व्यापार का इतिहास, पृष्ठ 169।
19. प्रसाद, ईष्वरी – प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्षन, मीनू प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980,पृष्ठ 136।
20. मजूमदार, के॰ डी॰ – प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ 189।
21. मुखर्जी, राधमुकुन्द – चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राजकमल प्रकाषन, नई दिल्ली, पृष्ठ 224।

सीखने में सोशल मीडिया

डॉ ज्योति पाण्डेय

सहायक आचार्य
(बी.एड. विभाग)
शिवमूर्ति रमाशंकर शिक्षक प्रशिक्षण
संस्थान सुंदरपुर मकदूनपुर परशुरामपुर
प्रतापगढ़ (उ.प्र.)

सारांश– सामाजिक माध्यम या सोशल मिडिया से अभिप्राय पारस्परिक संबंध के लिए एक आंतरिक जाल है। यह व्यक्ति एवं समुदायों के साझा सहभागी बनाने का माध्यम है। इसका उपयोग सामाजिक संबंध के अलावा उपयोगकर्ता सामग्री के संशोधन के लिए उच्च पारस्परिक मंच बानाने के लिए मोबाइल व वेब आधारित तकनीकियों के प्रयोग के रूप में भी देखा जा सकता है।

सामाजिक मिडिया एक ऐसा मीडिया है, जो बाकी सारे मीडिया (प्रिंट, इलेक्ट्रानिक व समानांतर मीडिया) से अलग है। सोशल मीडिया इंटरनेट के माध्यम से एक वर्चुअल वर्ल्ड बनाता है जिसे उपयोग करने वाला व्यक्ति सोशल मीडिया के किसी प्लेटफार्म (फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम) आदि का उपयोग कर पहुँच बना सकता है।

वर्तमान समय में सोशल मिडिया जीवन का एक अभिन्न अंग बन चुका है जिसके बहुत सारे गुण हैं– जैसे कि सूचनाएँ प्रदान करना, मनोंरंजक माध्यम एवं सीखने एवं शिक्षित करना शामिल है।

सीखने में सोशल मीडिया– सोशल मीडिया एक अपरंपरागत मीडिया है। यह एक वर्चुअल वर्ल्ड बनाता है जिसे इंटरनेट के माध्यम से पहुँचाया जा सकता है। ये एक विशाल नेटवर्क है, जो संपूर्ण संसार को जोड़े रखने में महत्वपूर्ण है। यह संचार का, शीघ्रता से सूचनाओं के आदान–प्रदान करने एवं विभिन्न क्षेत्रों की खबरों को समाहित करने का सुगम्य साधन है। सोशल मीडिया द्वारा सकारात्मक रूप से किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह व देश आदि को आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक रूप से प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

सोशल मीडिया के द्वारा कई ऐसे विकासात्मक कार्य हुए हैं जिनसे लोकतंत्र को सुदृढ़ता प्राप्त हुई है जिससे किसी भी देश की एकता अखंडता, पंथनिपेक्षता, समाजवादी गुणों में बढ़ोत्तरी हुई है।

सोशल मीडिया के सकारात्मक प्रभाव

- सोशल मीडिया दुनिया भर के लोगो से जुड़ने का एक महत्वपूर्ण साधन है और इसने विश्व में संचार को नया आयाम दिया है।
- सोशल मीडिया द्वारा उन लोगों को भी समाज के मुख्य धारा में लाया जा सकता है जिन्हें सामाजिक कार्यो से विलगध्दबाया जाता है।
- सोशल मीडिया द्वारा व्यवसाय के उत्तम साधन संगठित किये जा सकते हैं।
- सोशल मीडिया द्वारा विभिन्न प्रकार के रोजगार सृजित किए जा रहे हैं।
- आज के समय में सामान्य नागरिकों को जागरूक करने के लिए सोशल मीडिया व्यापक स्तर पर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर रही है।
- दैनिक दिनचर्या को संतुलित रखने एवं सामान्य सूचनाओं को एकत्र करने के लिए सोशल मीडिया की अपनी अलग–अलग भूमिका है।

वर्तमान समय में सर्वाधिक मात्रा में छात्र शिक्षा के क्षेत्र में सोशल मीडिया का प्रयोग–

- सीखने में रूचि उत्पन्न करने में
- अलग–अलग विषय में जानकारी प्राप्त करने में।
- छात्र सीखने संबंधित अपने कैरियर के लिए सही संसाधन व शैक्षिक सामग्री प्राप्त करने में
- सहयोग व टीम वर्क की भावना को बढ़ाने में इत्यादि रूपों में इसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रमुख प्रकार– स्मार्ट बोर्ड, रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र इत्यादि।

सोशल मीडिया के नकारात्मक प्रभाव

आवश्यकता से अधिक और गलत रूपों में इसका प्रयोग करने से बहुत सी नकारात्मक समस्याएँ उत्पन्न होती है–

- सोशल मीडिया का अधिकांश प्रयोग हमारे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहा है।
- साइबर अपराधों जैसे– हैकिंग व फिशिंग आदि का खतरा बढ़ जाता है।
- सोशल मीडिया का अत्यधिक प्रयोग छात्र–शिक्षक की समरसता को कम कर रहा है।
- सोशल मिडिया द्वारा धोखाधड़ी का चलन भी काफी बढ़ गया है जिसके द्वारा आसानी से लोगों को फँसाया जा रहा है।
- सोशल मीडिया द्वारा गोपनीयता की कमी हो रही है जिससे अपना व्यक्तिगत डेटा लीक होने का खतरा रहता है।

निष्कर्षः– अतः हम कह सकते हैं कि सोशल मीडिया सीखने संबंधित एक नया क्षेत्र है, और इससे दिन प्रतिदिन लोगों का समाज वं स्वयं में सोशल मीडिया के द्वारा निरंतर विकास हो रहा है यह आंनलाइन वेबसाइट द्वारा लोगों को विचार अभिव्यक्त करने, एक दूसरे से जोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रा देती है परंतु दूसरी तरफ यह समाज विरोधियों के प्रयोग से सामाजिक गतिविधियों को अत्यधिक पतन के रास्ते पर ले जा रही है अतः हमें सोशल मीडिया के सीखने के सकारात्मक पहलू के साथ नकारात्मक स्वरूप को नजरअंदाज किए बिना स्वयं को एवं दूसरों को इसका उचित उपयोग करने की सलाह दे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1 कुमार सु. (2004) इंटरनेट पत्रकारिता नई दिल्ली तक्षशिला प्रकाशन
2 Arya. N (2011) आधुनिक प्रभाव एवं कार्य जयपुर
3 Journalism in Inida. New Delhi. Sage Publication
4 https:// oldror.lbp.world

एकात्म मानववाद एवं शिक्षा

मानस मोहन पाण्डेय

शोधार्थी (शिक्षा संकाय)
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर,
उत्तर प्रदेश

भारत के महान दार्शनिक पण्डित दीनदयाल उपाध्याय बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। उनके 'एकात्म मानववाद' दर्शन में मानव जीवन के सभी पक्ष शामिल है। मूल रूप से उनके चिन्तन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। वे अपने समय के एक महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन जनसंघ के अध्यक्ष रहे और उनकी शिक्षा दीक्षा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठन में हुई, जहां अध्यात्म, संस्कार और स्वावलंबन, शिक्षा के मूलभूत सिंद्धान्त रहे है। इसलिए राजनीतिक व आर्थिक विषयों पर चिंतन के साथ ही दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा व्यवस्था पर भी विशेष जो दिया। उसके गुण–दोष एवं ससक्त तथा कमजोर सभी पहलुओं को उन्होनें छुआ। उन्होनें एक ऐसी शिक्षा–प्रणाली की वकालत की और दिशा दी जो समयानुकूल होने के साथ–साथ देशानुकूल भी थी।

1 शिक्षा का स्वरूप–

इस जीव जगत व्यष्टि और समाष्टि की जोड़ने वाला प्रथम सूत्र शिक्षा है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय 'शिक्षा' को ही समाज की जननी मानते है। उनके अनुसार "नए घटकों को पुराने घटकों से अपने सम्बन्ध का मान रहे तथा वे पुराने घटकों की जीवन की अनुभूति मानकर और समझकर आगे चले तो उस समूह को समाज नाम प्राप्त होता है। अर्थात एक के बाद एक मानव जब दूसरों को जो प्रायः उसके बाद जन्में हो, विभिन्न क्षेत्रों के अपने सम्पूर्ण अनुभव को अथवा उसके सारभूत अंश को विभिन्न उपायों द्वारा प्रदान करता है तो इस प्रक्रिया में एक निरंतर गतिमान मानव समूह की सृष्टि होती है जिसे समाज कहते हैं ऐसा ना हो तो समाज का जन्म ही ना हो।"

वस्तुत शिक्षा केवल औपचारिक है यह केवल एक विशेष अवधि में सीमित नहीं है यह एक सम्पूर्ण एवं सतत प्रणाली है जो मनुष्य को संस्कार से परिपूर्ण करती है और उसकी दिव्या पूर्णता से उसका साक्षात्कार कराती है मानव के इस समाज में सर्वांगीण विकास के क्रम में शिक्षा औषधि के रूप में उपयोगी है शिक्षा की यह उपयोगिता इस बात में मुख्यतः निहित है कि शिक्षा हमारे संपूर्ण सुख लौकिक एवं पारलौकिक की मार्गदर्शन बन सके। मुख्य रूप से शिक्षा का अंतिम एवं

आदर्श लक्ष्य मानव का आत्म साक्षात्कार है और दर्शन में इसे ही मुक्ति या परमानंद के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त है।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार इस समाज में शिक्षा पर प्रत्येक व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है। समाज द्वारा इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा का बाजारीकरण समाज के लिए घातक होगा। अतः शिक्षा सुनिश्चित व निःशुल्क होनी चाहिए। इस संदर्भ में वे लिखते है कि–

"बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित में है। जन्म से मानव पशुवत् पैदा होता है। शिक्षा व संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है। जो काम समाज के अपने हित में हो उसके लिए शुल्क लिया जाय, यह तो उल्टी बात है। कल्पना करें कि कल शिक्षाशुल्क का वहिष्कार करके अथवा उसे देने में असमर्थ होनें के कारण बच्चें पढना बंद कर दे तो क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा? पेड़ लगानें और सीचने से पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही। शिक्षा भी इसी प्रकार विनियोजन बनाती हो उससे समाज की अवहेलना करने वाले निकले तो आश्चर्य ही क्या? "

दीनदयाल नें स्वयं कहा है कि –

"भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कही भी शिक्षा के लिए शुल्क नही लिया जाता था। उच्चतम श्रेणी तक शिक्षा निःशुल्क थी। गुरूकुलों में तो भोजन व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी। केवल भिक्षा मांगने के लिए ब्रम्हचारी समाज में जाता था। कोई भी गृहस्थ ब्रम्हचारी को खाली हाथ नही लौटाता था अर्थात समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी।"

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार शिक्षा का व्यय राज्य द्वारा होने के उपरान्त भी उसका सरकारीकरण नही होना चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध करने के लिए शिक्षकों तथा शिक्षाविदों के स्वायत्त निकाय होने चाहिए। सरकार के विभाग के रूप में उनका चलना ठीक नहीं। सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं का भेद समाप्त कर देना चाहिए। सभी क्षेत्रों के शिक्षकों के वेतनक्रम व अन्य सुविधाएँ ऐसी हो जिससे योग्य व्यक्ति शिक्षाक्षेत्र में आने में संकोच न करें। शिक्षा संस्थाओं को मैनेजरों अथवा प्रबन्ध समिति की निजी सम्पत्ति बनने देना उचित नही। प्रबंधकों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता का दुरुप्रयोग कर विद्यालयों को निजी सम्पत्ति बनाने की प्रवृत्ति की ओर से भी सावधान रहना आवश्यक है। अतः स्वायत्तता का तात्पर्य शिक्षा की दुकानदारी न होकर संविधानतः सुपरिभाषित स्वायत्त राष्ट्रीय निकाय के अधीन शिक्षा व्यवस्था का होना है। यही वस्तुतः दीनदयाल को अभिप्रेत था।

2 शिक्षा में एकरूपता के पक्षधर–

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी शिक्षा के दोहरें ढाँचें जिसमें 'पब्लिक स्कूल' व सरकारी अथवा निजी स्कूलों की व्यवस्था होती है, के खिलाफ थे। वे पब्लिक स्कूलों को राष्ट्रीयता नाशक

प्रभाव छोड़नें वाले स्कूलों के रूप में वर्णित करते है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार शिक्षा समाज में भेद निर्माण करने वाली न होकर एकात्मभाव निर्माण करते हो। भारत के 'पब्लिक स्कूल इस उद्देश्य के प्रतिकूल है। आवश्यकता है, सभी शिक्षण संस्थाओं का स्तर ऊँचा उठाया जाय। समाज व राज्यसंस्था के द्वारा जहाँ शिक्षा का योग्य नियमन होना चाहिए वही शिक्षातत्व का दुरूपयोग कर साम्राज्यवादी बाहरी ताकतें हमारें समाज को अस्वस्थ न करें इसका भी ध्यान रखना जरूरी है। इस दृष्टि से वे भारत में मजहबी आधार पर चलने वाली विशेषकर ईसाई मिशनरी संस्थाओं को खतरनाक मानते थे। उनके अनुसार–

भारत में बहुत सी संस्थाएँ ईसाई मिशनों के द्वारा चलाई गई शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षा क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए प्रयत्नों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की जाती है। इतना ही नही आज के अनेक शिक्षित व्यक्ति तथा राष्ट्रीयता के भावना से अभिप्रेरित देशभक्त जो भारतीय संस्कृति के प्रेमी होने के वावजूद भी अपने बच्चो को शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन ईसाई स्कूलों में भेजते है।

इस प्रकार पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी शिक्षण संस्थाओं एवं शिक्षा व्यवस्था को वाह्य प्रभाव से मुक्त रखने के हिमायती थे। देश का भविष्य भारत की कक्षाओं में पलता है उसे सहज जी दूसरो को सौपना वे अनुचित एवं अहितकर मानते थे। इसीलिए उपाध्याय जी शिक्षा में स्वसंस्कृति के तत्वों का समावेश एवं एकरूपता को आवश्यक मानते थे।

3 शिक्षक–त्रयी की अवधारणा–

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी मानते है कि शिक्षा केवल औपचारिक उपक्रम मात्र नही है. वरन् एक सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। औपचारिक शिक्षा उसका महत्वपूर्ण भाग होते हुए भी केवल उसी से समाज सर्वांग रूप से सुशिक्षित नही हो सकता। अतः वे एक शिक्षक–त्रयी का वर्णन करते है। उनकी मान्यता है।

शिक्षा के खिलाफ व्यापक अर्थो में समाज का प्रत्येक घटक ही शिक्षक है। अतः प्रथम शिक्षक है समाज, द्वितीय अध्यापक व तृतीय है, स्वयं। इस शिक्षक – त्रयी को भारतीय शास्त्रकारों ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है–

(अ) 'माता प्रथम गुरू (संस्कार)–

मानव समुदाय में जन्म लेने के बाद 'संस्कार' ही शिक्षा का प्रथम माध्यम है, जो व्यक्ति समाज द्वारा ग्रहण करता है। संसार की दृष्टि से समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक है। व्यक्ति सबसे पहले जिस सामाजिक घटक के सम्पर्क में आता है, वह 'माता' प्रथम गुरुः। फिर व्यक्ति समाज के अन्य घटको के सम्पर्क में आता है। एक सामाजिक परिवेश रहता है, जिसका नवजात व विकसित हो रहे बालक पर अनजाने में ही प्रभाव होता रहता है। इसी प्रभाव को पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी 'संस्कार' कहते है। माता–पिता, परिजन–पुरजन–गुरूजन,

अग्रपाठी–सहपाठी, समाज के नेता और अधिष्ठता ये सभी विभिन्न प्रकार के संस्कार निरन्तर डालते रहते है। अतः समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक है। उसका यह सामाजिक दायित्व है कि वह अपने व्यवहार से सत्संस्कारी परिवेश का निर्माण करें। इस दायित्वबोध से शून्य होकर समाज यदि केवल औपचारिक शिक्षा व शिक्षक पर ही आश्रित होगा तो उसकी प्रगति नितांत संदिग्ध ही मानी जायेगी। शिक्षा में सर्वजन सहभागिता आवश्यक है। यह केवल कुछ विशेषज्ञों मात्र का विषय नही है। इसे 'शैक्षिक लोकतंत्र' की भी संज्ञा दी जा सकती है। और यही शैक्षिक लोकतंत्र समस्त मानव समुदाय का संपूर्ण विकास करने के लिए सक्षम है।

(ब) 'आचार्य देवो भव' (अध्यापन)–

शिक्षालयों की व्यवस्था कर औपचारिक अध्यापन के माध्यम से शिक्षा देना एक सर्वमान्य शैक्षिक तरीका है। 'अक्षरज्ञान' व पाठ्यक्रम के माध्यम से व्यक्ति को शिक्षित किया जाता है। यह औपचारिक शिक्षा निर्जीव कर्मकाण्ड न बन जाए, अतः आवश्यक है कि शिक्षा के व्यापक अर्थो को समझने वाले व्यक्ति अध्यापक बनें तथा समाज 'शिक्षक' को सर्वाधिक सम्मानित पद के नाते स्वीकार करे। शिक्षक की वर्तमान स्थिति व अपने सुझावों को प्रतिपादित करने वाला एक लेख उपाध्याय ने 'आर्गेनइजर' में लिखा। उपाध्याय ने अपने स्नेही विद्यालयी अध्यापक को अपनी अध्यापक बनने की इच्छा जतायी तो उनके इन शुभेच्छु अध्यापक ने जो कुछ कहा उसका वर्णन करते हुए पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी लिखते है कि "वे चुप हो गये। उनके चेहरे पर ठण्ड़ी उदासी छा गई। फिर उन्होंने पर्याप्त कड़वाहट के साथ कहा, "कृपा कर तुम और कुछ भी कर लो, चाहे तुम मोची बन जाओं, चाहे सड़क के किनारें बैठकर जूते गाँठने का कार्य करों, लेकिन इस गेंदले "मास्टरी' के काम को मत अपनाओं। अध्यापक बनने से तुम्हारी इस लोक व परलोक, दोनों लोको के जीवन की समस्त संभावनाएँ निश्चित रूप से समाप्त हो जायेगी।"

अपने शुभेच्छु पूर्वाध्यापक की राय न मानते हुए उपाध्याय ने टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में प्रवेश लिया तथा वहाँ के अनुभव को वे अपने लेख में इस प्रकार वर्णित करते है।

"यथा समय मैने प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश लिया। मैने वहाँ देखा कि शिक्षण का उदात्त कार्य आज आदर्शवादी और सेवाभावी लोगों को आकर्षित नहीं कर पा रहा है। केवल वे लोग जो अन्यत्र स्थान पानें में असमर्थ होते है, अध्यापक बन जाते है। भारतीय नागरिक सेवाओं (आई०सी०एस०) से लेकर नायब तहसीलदार तक की विभिन्न परीक्षाओं में ये प्रशिक्षणार्थी बैठतें थेः लेकिन इनमें जो अनुत्तीर्ण हो जाते, वे ही अध्यापक बनने की सोचते थे।"

(स) 'आत्मदीपो भव' (स्वध्याय)–

इस जीव जगत की सबसे मजबूत कड़ी समाज में शिक्षक की स्थिति तथा औपचारिक अध्ययन व्यवस्था के बाद व्यक्ति स्वयं ही अपना शिक्षक होता है। 'स्वध्याय' मनुष्य का स्वयं के द्वारा किया गया अध्ययन है। पठन, मनन और चिंतन के सहारे मनुष्य ज्ञान को आत्मसागम्य

करता है। बिना स्वाध्याय के न तो प्राप्त ज्ञान टिकता है और न बढ़ता है। स्वध्याय के बिना ज्ञान को जीनका अंग बनाकर 'तेजस्वीय' बनाने का तो प्रश्न ही नहीं। इसीलिए 'स्वाध्यायन्मा प्रमद' (स्वाध्याय में आलस मत करो), यह कुलपति का स्नातक को दीक्षान्त के अवसर पर आदेश रहता है। पुस्तकालय आदि की व्यवस्था स्वाध्याय के लिए आवश्यक है।

शिक्षा व्यक्ति में त्याग, तपस्या, सहानुभूति, परस्पर एकता, सूमह की भावना, आत्मा सम्मान, परस्पर प्रेम मातृभूमि के प्रति सम्मान आदि मूल्यों का सृजन करती है, जो राष्ट्रीयता के आधार है। राष्ट्र की 'चिति' एवं 'विराट' के सृजन एवं सम्बल में कही न कही से शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। शिक्षा ही हमें यह बताती है कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है तथा इस मातृभूमि की रक्षा एवं मानव मात्र के कल्याण के लिए ऋषियों, मुनियों, महापुरूषों, देशभक्तों, कवियों, लेखकों, साहित्यकारों तथा सन्तों के त्याग एवं आत्मबलिदान की एक लम्बी श्रृंखला रही है।

उपाध्याय जी समाज में शिक्षामय वातावरण के लिए घर व नगर में पुस्तकालयों की स्थापना तथा पठन–पाठन का परिवेश बनाने पर बहुत जोर देते थे। इसके बिना औपचारिक शिक्षा का भी वांछित टिकाव व विकास संभव नही है। दीनदयाल ने शिक्षा की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

"शालेय (विद्यालयी) शिक्षा अकेली ही मनुष्य का निर्माण नही करती। संस्कार एवं अध्यापन का बहुत सा ऐसा क्षेत्र है जो शालेय क्षेत्र के बाहर है। यदि इन दोनों क्षेत्रों में विरोध रहा तो विद्यार्थी के जीन में क अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। एक समन्वित, एकीकृत, सर्वागपूर्ण, अखण्ड़ व्यक्तित्व का विकास के स्थान पर उसकी प्रकृति में विभक्त निष्ठाओं का समावेश हो जाता है। समाज और उसके बीच एक खाई पड़ जाती है।"

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के सम्पूर्ण वैचारिक प्रतिपादन में शिक्षा व संस्कार व्यवस्था का सर्वाधिक महत्व है। वे समाज के चतुर्विध पुरुषार्थो की प्राप्ति की मूलभूत आधारशिला 'शिक्षा' को ही मानते थे। इस सन्दर्भ में सदैव सही रास्ता खोज लेने के लिए तैयार करता है। अतः राजनीतिक व आर्थिक कारणों से योजनाकार जब शिक्षा की अवहेलना करते थे तो पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी उसे अनुचित करार देते थे। पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा मद में व्यय की कटौती की उन्होनें आलोचना की। चौथी पंचवर्षीय योजना पर टिप्पणी करते हुए उन्होनें कहा "इस योजना की सबसे कमजोर कड़ी है शिक्षा 'वे आगे कहते है दृ इस मद में 1964–66 में 180. 13 करोड़ रूपयें की जगह अब 98.38 करोड़ रूपये का प्रावधान है। शिक्षा का क्रम तो अबाध रूप से चलना चाहिए। उसे यदि बीच में तोड़ दिया गया या कमजोर कर दिया गया तो आगे जोड़ना बहुत कठिन हो जायेगा।

4 शिक्षक छात्र सम्बन्ध –

शिक्षक एवं छात्र को पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी एक दूसरे का पूरक मानते थे। छात्र में शिक्षक स्वयं प्रतिबिम्बित होता है। शिक्षक, छात्र में शोध एवं खोज की प्रवृत्ति जगाता है तथा

इन्ही खोजों को व्यावहारिक धरातल पर क्रियान्वित करके, शिक्षक एवं छात्र दोनों मानवीय कल्याण का कार्य करते है। छात्र शिक्षक का प्रतिनिधि एवं पूँजी दोनों है। छात्र ही शिक्षक का शक्ति पूँज है जिनसे सम्मलित प्रयास से वह लोक कल्याणकारी योजनाएं बनाता एवं उन्हें क्रियान्वित करता है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ज्ञान एवं क्रिया की एकता को आवश्यक मानते थे। इसीलिए वे ज्ञान के व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग पर विशेष बल देते थे। उनके अनुसार हाथ से काम करते हुए सोचना 'व' अपनी सोच को क्रियान्वित करना निपुणता प्राप्ति का एकमेव मार्ग है। हाथ और मस्तिष्क की सम्मिलित प्रक्रिया ही गहन ज्ञान प्राप्ति का साधन है। अनेक नए विचार उस समय प्रस्फुटित होते है जब व्यक्ति कार्यरत रहता है। कार्य करते हुए सोचने से बहुत से प्रश्न उपस्थित होते है। उनका निराकरण है जब व्यक्ति कार्यरत रहता है। कार्य करते हुए सोचने से बहुत से प्रश्न उपस्थित होते है। उनका निराकरण कई बार काम की प्रक्रिया के साथ ही होता है। जो स्थाई रूप से स्मृति पटल पर अंकित होता जाता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में आश्रम व्यवस्था इसका स्पष्ट उदाहरण थी परिणामतः स्वरूप, श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हुई है। जीवन निर्वाह श्रम की उत्पादकता पर निर्भर करता है, इस तथ्य को भुला दिया गया है। महात्मा गाँधी नें श्रम का सिद्धान्त प्रातिपादित किया था कि रोगी एवं असक्त व्यक्तियों को छोड़कर अन्य सभी लोगो को उचित मात्रा में उत्पादक श्रम करना नितांत आवश्यक है अन्यथा खानें वालों की संख्या बढ़ती रहेगी व उत्पादक श्रमशील लोगों की संख्या घटती जायगी, जिससे सामाजिक जीवन में असन्तुलन एवं विषमता बढेगी। इसी को ध्यान में रख कर ज्ञानार्जन एवं श्रम साधना की एकात्म शिक्षा पद्धति पर संघ ने बल दिया। इसी प्रकार शिक्षक छात्र सम्बन्ध भी एकात्मक है। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध है। आज का छात्र कल का शिक्षक है। इसमें शिक्षा, सेतु का कार्य करती है जिसके माध्यम से छात्र देश काल के परिवर्तनों के अनुरूप अपने गुरू से प्राप्त ज्ञान रश्मियों को तथा स्वयं अपने इस दिशा में किए गये प्रयासों को मानव मात्र के कल्याण के लिए लगाता है तथा शिक्षक योग्य शिष्यों का निर्माण कर उन्हें इस कार्य के लिए प्रेरित करता है।

5 पाठ्यक्रम –

दीनदयाल उपाध्याय शोध संस्थान द्वारा स्थापित अनेक विद्यालयों जैसे आधारशिला स्कूल आदिवासी मुक्ति संगठन, म०प्र० का एक शिक्षा प्रकल्प, चिन्मय ग्रामोदय विद्या मन्दिर, जनपद–गोण्डा उ०प्र०, सुरेन्द्रपाल ग्रामोदय विद्यालय चित्रकुट, जनपद सतना, म०प्र० के पाठ्यक्रमों पर विहंगम दृष्टि के आधार पर कहा जा सकता है कि उपाध्याय रोजगार आधारित पाठ्यक्रमों के हिमायती थे, जिससे इन पाठ्यक्रमों को पूर्ण करने के उपरान्त विद्यार्थी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सके एवं राष्ट्रनिर्माण तथा विकास में अपना योगदान देने कि। इन विद्यालयों की खास बात यह है कि – "यहाँ पुस्तकीय ज्ञान की जगह हाथ से काम करके सीखनें, देखकर–छूकर

सीखने और आस–पास के परिवेश और समाज को समझकर सीखने को तरजीह दी जाती है। यहाँ शासकीय स्कूलों के बेगाने पाठ्यक्रम को नही पढ़ाया जाता है अपितु खेत–खलिहान, पेड़–पौधे, जंगली एवं पालतू जानवरों का इतिहास पढ़ाया जाता है।" छात्र खेती करते है, सब्जियों एवं फल उगाते है, सिचाई करते है, पशुपालन एवं विभिन्न शिल्पकलाओं में कुशलता प्राप्त कर उनका क्रियान्वयन करते है। दीनदयाल शिक्षा द्वारा सामाजिक पुनर्रचना करना चाहते थे जिसके लिए ग्रामीणों की शिक्षा एवं कुटीर उद्योगों एवं शिल्पकलाओं पर विशेष जोर देने की बात उन्होनें की। वे एक ऐसी शिक्षा की बात करते है जो गांव के लागों की जिन्दगी में बदलाव लाए। पढ़–लिखकर बच्चे निकम्में और चुरकट न बने बल्कि अपने गांव को शिक्षित करें, मिश्री बने, लोहार बने स्वास्थ्य कार्यकर्ता बने, कुशल शिल्पी बने, अच्छा इंसान बने तथा गांव एवं राष्ट्र के विकास के में योगदान दें। आज की शिक्षा में डाक्टर, इंजीनियर, अफसर आदि बनानें की बात तो की जाती है लेकिन अच्छा इंसान बनाने की बात नही की जाती है। उपाध्याय कुटीर उद्योगों यथा लुहारगीरी, बढ़ईगीरी, कुम्हारगीरी, मामूली वाहनों, बिजली की चीजों के सुधार जैसी बातों का प्रशिक्षण एवं अन्य जीवनोंपयागी चीजों के निर्माण एवं मरम्मत के प्रशिक्षण के पक्षधर थे। इन्हें शिक्षा में शामिल किया जाना चाहिए ऐसी उनकी मान्यता थी। पच्चीस वर्ष तक के यौवनकाल को निरूद्देश्य घूमनें एवं तोड़फोड़ के लिए सड़कों पर छोड़ा जा सकता है। उच्च शिक्षा के द्वार केवल विशिष्ट प्रतिभा के छात्रों के लिए खुले होने चाहिए।

6 शिक्षण–विधि' –

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी कोरे सिद्धान्त में विश्वास नही करते थे। वे व्यावहारिक या क्रिया परक शिक्षण विधि का समर्थन करते थे। आओ करके सीखे, सीखने की यही विधि पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी को मान्य थी। वे बच्चों को बुनियादी तालीम देकर, पढ़ना–लिखना सिखाकर काम करने लायक प्रशिक्षण देकर समाज के लिए उपयोगी बनाना चाहते थे, ताकि समाज स्वयं अपनी विविध जरूरते पूरी करे। समाज का इस पर नियत्रंण हो सब कुछ सरकार कर भी नही सकती और आजकल तो वह इस तरह के कामो से अपना हाथ खींच रही हाथ से काम करते हुए सोचना व अपनी सोच को क्रियान्वित करना। यही निपुणता प्राप्ति का एकमेव मार्ग है। उपाध्याय ज्ञार्नाजन एवं श्रमसाधना द्वारा उनके व्यावहारिक प्रयोग की एकात्मशिक्षा पद्यति का विकास करना चाहते थे।

7 शिक्षा का लौकिक उद्देश्य –

शिक्षा व्यक्ति के समाजीकरण में सशक्त भूमिका का निर्वहन करती हैं। यह सर्वविदित है कि शिक्षा व्यक्ति के सर्वागीण विकास का माध्यम है शिक्षा के लौकिक उद्देश्यों पर विचार करते हुए नाना जी देशमुख ने कहा है कि –

"शिक्षा प्राप्ति द्वारा ही शिक्षार्थी अपनी शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक एवं अध्यात्मिक उन्नति करता है। शरीर आत्मा का मन्दिर है (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) शरीर का, आंतरिक जीवनदायी प्रेरणा का, विवके–बुद्धि का, कल्पनाशक्ति का तथा सबके साथ तादात्म्य का विकास ही मानव का विकास है। शिक्षा तथा पूर्ण मानी जानी चाहिए जब शिक्षार्थी अपने अन्दर पावित्र्य, सौन्दर्य एवं व्यापक जीवन दृष्टि का साक्षात्कार करें।"

इसी में शिक्षा की एवं विद्यार्थी–जीवन की सार्थकता है तथा देश एवं मानव मात्र का भविष्य सन्निहित है। वस्तुतः शिक्षा एक रचनात्मक प्रक्रिया है जो इहलौकिक एवं परलौकिक दोनो ही जगत् में मनुष्य का कल्याण करती है। लौकिक जगत् में शिक्षा व्यक्ति को जिज्ञासु बनाती है। इसमें खोजपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर उनका समाधान किया जाता है। स्वनिर्देशित प्रयासो द्वारा ज्ञानार्जन किया जाता है। इस प्रक्रिया में अध्यापक मूलतः उत्प्रेरक तथा सहायक की भूमिका निभाता है, जिससे व्यक्ति अपने पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में स्वावलम्बी तथा व्यावसायिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनता है। शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य मात्र का सम्मान, नारी प्रतिष्ठा एवं सर्व–धर्म–समभाव में निहित है। आर्थिक विषमताओं को पाटकर समतल सामाजिक पीठिका का निर्माण, लोकतंत्र के लिए अपेक्षित जागरूकता, सहिष्णुता और कर्तव्यबोध उत्पन्न करना ये बातें शिक्षा के मूल में है। जातिवाद, पस्पृश्यता, पर्दा, दहेज जैसे रोगों से छुटकारा और राष्ट्र के प्रति निष्ठा इन सबकी प्रेरणा देना मानविकी से सम्बद्ध विषयों के अध्यापन का लक्ष्य होना चाहिए। स्पष्ट है कि उपाध्याय शिक्षा के द्वारा एक समतामूलक एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर समाज की स्थापना करना चाहतें थे। व्यक्ति को स्वावलम्बी बनानें के लिए ही उन्होनें रोजगारोन्मुखी शिक्षा पर जोर दिया जिसमें कुटीर उद्योग, पशुपालन, कृषि एवं चिकित्सा शिक्षा (आयुर्वेद) आदि प्रमुख थें।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के संपूर्ण चिंतन में शिक्षा एवं संस्कार व्यवस्था का सर्वाधिक महत्व है। वे समाज के चतुर्विध पुरूषार्थो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूलभूत आधारशिला शिक्षा को ही मानते थे। उनके अनुसार व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाला प्रथम सूत्र शिक्षा है। शिक्षा व्यक्ति के चरित्रनिर्माण की शाला है जो व्यक्ति को स्वावलम्बी तो बनाता ही है साथ ही उसे उसके स्वत्व का बोध कराती है। गोल्डस्मिथ महोदय की प्रसिद्ध उक्ति है कि वह देश विनाश की दिशा में गतिमान होता है, जहाँ सम्पन्नता तो बढ़ती है, किन्तु मानवीयता का हास होता है। इसको ध्यान में रखते हुए पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने तकनीकी प्रगति के साथ मानवीय जीवन मूल्यों के सामंजस्य को शिक्षा के मूल में रखा जो वर्तमान समय की आवश्यकता भी है। उपाध्याय शिक्षा के द्वारा वैयक्तिक एवं समाजिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करते हुए दोनो को एक दूसरे का पूरक मानते थे। लौकिक जीवन में सुख, समृद्धि, आत्मनिर्भर एवं परिवारिक तथा सामाजिक सौहार्द शिक्षा के उद्देश्य है। दीनदयाल की दृष्टि एकात्मवादी है। उनके अनुसार मानव

यात्रा अखण्ड़ से खण्ड़ की ओर, और खण्ड़ से अखण्ड़ की ओर है। यही तक ये साधन उपलब्ध नही हो सकते मनुष्य पशु के समान ही है। क्योकि मनुष्य का मन हमेशा अपनी जीविका के लिए चिन्तनशील रहेगा, जैसे कि पशु का रहता है। उसका मन भी पशु जैसा स्थूल हो जायेगा, सूक्ष्म नही रह जायेगा। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी जीवन की उपर्युक्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को शिक्षा के लौकिक उद्देश्य के रूप में मानते है परन्तु वे इन्हे शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य मानव एकात्मता का साधन बताते है।

8 शिक्षा के आध्यात्मिक उद्देश्य (मानव एकात्मता) –

दीनदयाल के चिन्तन में शिक्षा का आध्यात्मिक उद्देश्य मानव एकात्मता में निहित है। जो भारतीय दार्शनिकों की पुरानी मान्यता है। इसी से एकत्व तथा अद्वैत जैसे दर्शनों का प्रतिपादन हुआ। एकात्मता का विचार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु के भाव से साम्य रखता है, जो एक समदर्शी या संयमी का लक्षण है। यही जीवनमुक्ति की भी अवधारणा है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी भारतीय प्रकृति के सजग प्रहरी के रूप में अपने 81

एकात्ममानववाद में उसकी युगानुकूल व्याख्या प्रस्तुत करते है। एकात्मता, मानवमात्र की एकता है। महेशचन्द्र शर्मा ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है –

"सम्पूर्ण चराचर जगत में एकात्मभाव की अवधारणा भारतीय दर्शन की विशेषता है। 'यद् पिण्ड़े तद् ब्रम्हाण्ड़े' जो क्षुद्र में है वही विराट में भी है। इस व्याख्या के अनुसार "विराट' अनेक छोटी इकाइयों का योग नही है और सूक्ष्म विराट का छोटा टुकड़ा न होकर उसका लघु 'चित्त' है। वटवृक्ष विराट् है, बीज सूक्ष्म है। बीज में वृक्ष अपनी सम्पूर्ण विशालता सहित समाया हुआ है और सूक्ष्म भी है। अतः सूक्ष्म और विराट्, व्यष्टि एवं समाष्टि तथा मनुष्य एवं समाज में द्वंद नही है एकात्मभाव है, जो जीवन को टूकड़ो में नही बॉटता। यह खण्ड़ दृष्टि नही, अपितु समग्र दृष्टि प्रदान करता है।"

आधुनिक विज्ञान भी 'एकात्मता' के पक्ष में है। दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है कि लोग यह तो स्वीकार करते है कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है, किन्तु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का उन्होनें सदैव प्रयत्न किया है। और इस एकता के रूप में अन्ततः वे चेतना की स्थापना करते है। जो जगत् का मूल है। एकात्म मानववाद में 'एकात्मता केन्द्रीय प्रवृत्ति है तथा इसी की स्थापना दीनदयाल का अभीष्ट भी था। एवं इसी की स्थापना उनकी शिक्षा का आध्यात्मिक उद्देश्य भी है।

9 शिक्षा एवं राष्ट्र –

व्यष्टि और समाष्टि को जोड़ने वाला प्रथम सूत्र है शिक्षा। उपाध्याय 'शिक्षा' को ही समाज की जननी मानते है। शिक्षा के द्वारा ही एक पूर्ववर्ती पीढ़ी अपनी सम्पूर्ण संचित ज्ञान राशि,

अनुभवों, संस्कारों, आदर्शों एवं राष्ट्रीय मूल्यों आदि को अपनी परवर्ती पीढ़ी को हंस्तारित करती है। इसीलिए शिक्षा व्यक्ति के सर्वागीण विकास का माध्यम है।

शिक्षा की पूर्णता में उसका मानवीय होना, इसमें ने केवल बुद्धि का शिक्षण अपितु ह्रदय का निर्मलीकरण तथा आत्मा का अनुशासन शामिल होना भी आवश्यक है। कोई भी शिक्षा पूर्ण नही कही जा सकती यदि वह ह्रदय और आत्मा की अवहेलना करती है। शिक्षा एक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने मस्तिष्क को प्रखर बनाता है। सूचना और मूल्यों का विवेक ग्रहण करता है। शिक्षा व्यक्ति को केवल सामान्य ज्ञान और तकनीकी कुशलता के तत्व ही नही प्रदान करती है बल्कि मस्तिष्क का वह रूझान, विवके की वह दृष्टि, लोकतंत्र की वह भावना तथा राष्ट्र की गरिमा भी प्रदान करती है जो उसे देश का जिम्मेदार नागरिक बनाते है।

इस प्रकार पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी शैक्षिक सिद्धान्तों को मानवीय व्यवहार का अंग बनाकर उसे मानव जीवन के लिए उपयोगी बनाने के प्रति प्रतिबद्ध थे। परन्तु इस प्रक्रिया में वे भारतीय संस्कृतिक परम्पराओं के प्रति कभी उदासीन नही हुए। जिससे मानव की भौतिक प्रगति के साथ–साथ उसकी अध्यात्मिक उन्नति भी हो सके। यही आध्यात्मिक प्रगति मानव एकात्मता का मूल है तथा सम्पूर्ण शिक्षा का अंतिम उद्देश्य भी है।

चूंकि शिक्षा पूर्व पीढ़ी के द्वारा संचित सम्पूर्ण ज्ञान, राशि, अनुभवों, संस्कारों, क्षमताओं आदर्शों एवं राष्ट्रीय मूल्यों को परवर्ती पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम है। इतना ही नही अपितु शिक्षा पूर्ववर्ती ज्ञान को देशिक एवं कालिक तथा वर्तमान में उपयोगी बनाने के लिए उसमें अपेक्षित परिवर्तन भी करती है। शिक्षा ही राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के भावों को सम्बल प्रदान करती है जिससे राष्ट्र विकास के पथ पर अग्रसर होता है। यही शिक्षा व्यक्ति में त्याग, तपस्या, सहानुभूति, परस्पर एकता, सूमह की भावना, आत्मा सम्मान, परस्पर प्रेम मातृभूमि के प्रति सम्मान आदि मूल्यों का सृजन करती है, जो राष्ट्रीयता के आधार है। राष्ट्र की 'चिति' एवं 'विराट' के सृजन एवं सम्बल में कही न कही से शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। शिक्षा ही हमें यह बताती है कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है तथा इस मातृभूमि की रक्षा एवं मानव मात्र के कल्याण के लिए ऋषियों, मुनियों, महापुरूषों, देशभक्तों, कवियों, लेखकों, साहित्यकारों तथा सन्तों के त्याग एवं आत्मबलिदान की एक लम्बी श्रृंखला रही है। शिक्षा, मानव मात्र को लोककल्याण के लिए इसी पथ का पथिक बनने की प्रेरणा देती है। शिक्षा व्यक्ति को जीवन में धर्म, अर्थ, काम पुरूषार्थो की प्राप्ति करते हुए मानव जीवन के अंतिम पुरूषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। यही सम्पूर्ण शिक्षा का उद्देश्य भी है जो राष्ट्र निर्माण के साथ–साथ मानव मात्र के इहलौकिक एवं परलौकिक कल्याण का एकमात्र मार्ग है। यही उपाध्याय का एकात्ममानववाद भी है। जिसकी प्राप्ति में शिक्षा की एक निर्णायक भूमिका हो सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

- उपाध्याय, पं० दीनदयाल : पोलिटिकल डायरी
- मिश्रा, डा० विनोद : पं० दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद
- ठेगड़ी, मा०सं०गोलवलकर दन्तोयन्तः पं० दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति और विचार
- उपाध्याय, पं० दीनदयाल : राष्ट्रीय जीवनमाला
- उपाध्याय, पं० दीनदयाल : राष्ट्र चिन्तन
- सिंह, अमरजीत : एकात्म मानववाद के प्रणेता पं० दीनदयाल उपाध्याय
- उपाध्याय, पं० दीनदयाल :एकात्म मानववाद, तत्व मीमांसा, सिद्धान्त, विवेचन
- उपाध्याय, पं० दीनदयालः भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा ।
- अग्रवाल, जे०सी० आधुनिक भारतीय शिक्षा संरचना। नई दिल्ली, करोल बाग, आर्य बुक डिपो (1989)
- अग्रवाल, एस०के० शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त। मेरठ, राजेश पब्लिशिंग हाउस (1989)
- अरविन्द योग जीवन। पाण्डिचेरी, श्री अरविन्द आश्रम (1990)
- रविन्द दिव्य जीवन। पाण्डिचेरी, श्री अरविन्द आश्रम (1999)
- अवस्थी, अमरेश आधुनिक भारतीय एवं राजनीतिक चिन्तन नई दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन्स, (1998)
- उपाध्याय, दीनदयाल सम्राट चंद्रगुप्त, लखनऊ, राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन (1946): जगद्गुरू शंकराचार्य, लखनऊ, राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन (1947)

कत विधि सृजी नारि जग माँही

डॉ० अमित कुमार तिवारी

असिस्टेन्ट प्रोफेसर–हिन्दी
डा० राममनोहर लोहिया राजकीय
महाविद्यालय बिधूना औरैया

स्त्री बनने की प्रक्रिया उसके जन्म के समय से आरम्भ हो जाती है। भारत के कुछ क्षेत्रों में ऐसी मान्यता रही कि लड़की के जन्म लेते ही धरती तीन ऊँगली नीचे चली जाती है। पुत्र के पैदा होने से तीन ऊँगली ऊपर हो जाती है। पुत्र और पुत्री के बीच भेदभाव की जड़ समाज और संस्कृति में इतनी गहरी है कि उनका समाप्त होना आसान नहीं है। चीन में लड़कियों के पैर को छोटा बनाने के लिए उनको लोहे के जूते पहनाने की प्रथा है, इसी प्रकार अफ्रीका के कुछ स्थानों पर लड़कियों का खतना किया जाता है। समय के साथ धीरे–धीरे स्त्रियों की भूमिका दोयम दर्जे में स्थापित होती गयी। सुचिता, पवित्रता एक ऐसा तत्व है जो बाकी लोगों पर श्रेष्ठता कायम करने का अचूक अस्त्र है। भारत में जातिवाद और स्त्री शोषण का बहुत बड़ा आधार है। समाज स्त्री के रजस्वला होने को 'ईश्वरीय देन' मानता है, वही समाज इस अवस्था की उसकी पवित्रता से भी जोड़ता है। शुचिता और वर्जनाएँ स्त्रियों के पैर की बेड़िया बन जाती है। स्त्री की पराधीनता उसके शरीर पर अधिकार और नियंत्रण से शुरू होता है। स्त्रियों का संघर्ष अनवरत जारी है, साहित्य से लेकर समाज तक राजनीति से लेकर संस्कृति तक, प्रत्येक जगह स्त्री अपनी उपस्थिति के लिए संघर्षरत है। आज भी अनेक ऐसे स्थान है जहाँ प्रवेश के लिए स्त्री इन्तजार कर रही है। सिमोन की विख्यात पंक्ति– "One is not born a woman, but becomes one". जिस प्रकार लड़की पैदा नही होती, उसे बनाया जाता है, वैसे ही लड़का भी पैदा नहीं होता, उसे बचपन से ही ठोंक पीटकर बनाया जाता है। वह रोता है तो उसके आँसू छीन लिए जाते है– क्या लड़कियों की तरह रोता है। उससे कोमल, नरम, भीगे रंग छीन लिए जाते हैं– तू क्या लड़की है जो पीला, गुलाबी रंग पहनेगा? उसके लिए गाढ़े रंग हैं– काला, भूरा, गहरा नीला! डसे सॉफ्ट टॉयज नहीं दिये जाते–तू क्या लड़की है जो गुड़िया से खेलेगा! डसके हाथ में पजल्स, बन्दूक, मशीन, औजार थमा दिया जाता है। कुल जमा बात यह है कि एक बच्चे को शुरू से ही कठोर रूश्क–शुष्क, वर्चस्ववादी, हिंसक होने का रोल थमा दिया जाता है। माना की प्रकृति ने स्त्री और पुरूष की जैविका संरचना में आधार भूत अन्तर रखा है पर प्रकृति ने जिस

अन्तर को एक दूसरे के पूरक के रूप में गढ़ा है, हम उसे ठोक पीटकर दो परस्पर प्रतिद्वन्दी या विपरीत खेमे में बदल देते हैं।"[1]

स्त्रियों के प्रति हिंसा का आँकड़ा बढ़ता जा रहा है और दूसरी ओर साहित्य में पुरूष–विमर्श आलोचकों को आकर्षित कर रहा है। ऐसी परिकल्पना रही कि पहले स्त्री–पुरूष सम्बन्ध विवाह बन्धन में नहीं बँधते थे बल्कि एक स्त्री पर अनेक पुरूषों का अधिकार होता था। बच्चों के लालन–पालन का भार स्त्री अकेले वहन करती थी क्योंकि पितृत्व की अनिश्चितता के कारण ऐसा था। मिथक के अनुसार भूख से व्याकुल एक बच्चे ने अपनी माँ से खाना मांगा लेकिन उसी वक्त एक पुरूष आया और स्त्री से यौनाचार करने लगा। यही बच्चा जब बड़ा हुआ तो उसने विवाह नामक संस्था बनाई जिसमें विवाहित स्त्री को कोई दूसरा पुरूष नहीं ले जा सकता था और न ही वह स्त्री विवाह की मर्यादाओं की तोड सकती थी। अतः विवाह स्त्री को अन्य पुरूष के जोर–जबर्दस्ती से बचाने वाली संस्था थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्री को बचपन में पिता, जवानी में पति तथा बुढ़ापे में बच्चों की आश्रिता बताकर महिमा मंडित किया गया। अक्टूबर 2005 में घरेलू हिंसा निवारण अधिनियम लागू हुआ परन्तु शोषित होने के बाद भी स्त्रियाँ इसका उपयोग करने से कतराती रहती हैं क्योंकि उनको अपना घर टूटने का डर बना रहता है और माता–पिता से उपेक्षा का भय भी रहता है। अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता, घरेलू कार्य को नगण्य मानना, अल्प आयु में विवाह, वैधव्य जीवन पर अंकुश आदि अनेक कुरीतियों के चलते उनको शिक्षित करना अनिवार्य हो गया। स्त्री शासित है इसलिए सामाजिक सार्वजनिक और राजनैतिक निर्णय लेने से वंचित है। स्त्रियों के मामले में यह भी बड़ा यथार्थ है कि पति के शोषण से परेशान होकर वह जब अन्य पुरूष का सहारा लेती है तो अपने आपको बड़े चक्रव्यूह में फँसा पाती है। सुधा अरोड़ा जी ने लिखा कि– "विवाह संस्था आज भी निष्ठा समर्पण और साहचर्य की प्रतीक है। अमेरिका जैसे खुले समाज में जहाँ देह की वर्जना नहीं है, वहाँ भी दाम्पत्य के मूल में निष्ठा ही है। वहाँ भी विवाहेतर सम्बन्ध तलाक का बायस बनते हैं। वहाँ भी बच्चों के भविष्य और मानसिक स्वास्थ्य और विकास के मद्देनजर कई–कई शादियाँ टूटने की कगार पर पहुँचकर भी समझौते पर पहुँचती हैं और निस्सन्देह विवाह संस्था का बचा रहना यह बच्चों के पक्ष में जाता है और उनके भविष्य को सुरक्षित होने का एहसास दिलाता है"[2]

विवाह संस्था स्त्री–पुरूष को बाँधती है, उनके जीवन को एक क्रम में अनुशासित करती है। विवाह संस्था का निर्माण ही इसलिए हुआ कि कई पुरूषों द्वारा स्त्री का शोषण न हो सके परन्तु विवाह संस्था के भीतर भी स्त्रियों का कम शोषण नहीं हो रहा। आज बोल्डनेस के नाम पर अनेक प्रिंट मीडिया वाले सिर्फ देह विमर्श परोस रहे हैं। महिलाओं की एक श्रेणी भावना संवेदना विहीन, कठोर तार्किक, इस्पाती व्यक्तित्व वाली है, उनका सहयोगात्मक सम्बन्ध पुरूषों के साथ बिल्कुल नहीं है, इससे सम्बन्धों की नैसर्गिकता समाप्त हुयी है। आदमी की निगाह में

स्त्री सिर्फ भोग करने के लिए एक शरीर है। अनेक सामाजिक, आचार–संहिताओं अर्थात मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों से लेकर कामसूत्र तक स्त्री को अपने वश में करने और विजित करने की कलाएँ वर्णित हैं। राजेन्द्र यादव ने लिखा कि– "क्या यह आकस्मिक ही है कि औरत को जीतने या उसे अपना गुलाम बनाने के लिए अनगिनत वशीकरण, साधनाएँ, सिद्धियाँ, औषधि आसन हैं, पौरूष और काम संवर्धन के लिए दुनिया भर के नुस्खे और दवाइयाँ है। एक भी नुस्खा औरत की कामशक्ति बढ़ाने के लिए नहीं है, न उसके लिए कोई कामसूत्र है। बल्कि यहाँ ऐसी गोपनीयता और निजता बरती गई है कि ये सारे गुर या मंत्र सिर्फ पुरूषों के लिए हैं, औरत को इसका पता भी नहीं लगना चाहिए– शायद यह मानकर चला गया है कि स्त्री में स्वाभाविक रूप से ही कामशक्ति पुरूषों से आठगुनी अधिक है। वह स्वयं काम है, उसे ही जीतना है, नियंत्रित करना है या फिर कुचलना है।"[3]

हमारे समाज में भयानक अन्तर्विरोध है कि स्त्री सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक, क्षेत्रों मे अग्रणी और अपने आपको स्थापित करे लेकिन परम्परावादी नैतिकता को भी ढ़ोती रहे। इस समाज में शारीरिक स्वतंत्रता का चुनाव स्त्री के पास नहीं है, उसे कितनी स्वतंत्रता मिलनी है इसका चुनाव पुरूष समाज करता है। एवरेस्ट पर पहुँचने वाली सबसे कम उम्र की सन्तोष यादव ने कहा था कि एवरेस्ट पर विजय पाना आसान है लेकिन सामाजिक रूढ़ियों और असमानता के संस्कारों से पार पाना संभव नहीं है। आधुनिकता और उदारता से भरा समाज क्या बेटी के जन्म को उसी उत्साह से ग्रहण कर पाता है? नारी और शूद्र की स्थिति लगभग एक है इसलिए उससे सम्बन्धित मनोविज्ञान लगभग समान है। सऊदी अरब में सबके सामने जब एक दुश्चरित्रा राजकुमारी का सिर धड़ से अलग किया जाता है तो बर्बरता के साथ हम अपनी पीठ थपथपाते हैं। नारी मुक्ति का आन्दोलन अनेक उलझनों और भटकाव का शिकार रहा है। अनेक स्थान पर देखा गया कि नारी से सम्बन्धित सुधारवादी कार्यक्रमों में जो लोग चढ़कर भागीदारी कर रहे थे, बात जब उनके घर की आयी तो उनका मानक बदल गया। स्त्रियों को सहधर्मिणी सिर्फ शाब्दिक रूप में बताया गया। समाज समान धर्म व्यवहृत करने में अभी बहुत पीछे है, स्थापित मान्यता, परम्परा, रीतियाँ रूढ़िया खून में इतने गहरे धँसी हैं कि उसको पुरूष वर्ग अपनी अस्मिता, सम्मान और अधिकार से सम्पृक्त करके देखता है। राजेन्द्र यादव ने लिखा कि– "भारतीय समाज में न नारी का अपना कोई व्यक्तित्व रहा है, न जाति। वह ऐसा रत्न है जिसे कहीं से भी उठाया जा सकता है, और जिसके पास है उसी की सम्पत्ति है। वे व्यक्ति नहीं 'चीज' हैं जिन्हें लूटा छीना और नष्ट किया जा सकता है। सारा इतिहास इन उदाहरणों से भरा है कि किस आक्रमण में कितने हाथी घोडे, हीरे, जवाहरात और औरतें लूटी गई। जिस सामन्त या सम्राट के पास जितने अधिक दास और औरतें थी वह उतना ही बड़ा चक्रवर्ती माना गया। सन 47 के देश विभाजन में भी कितनी औरतें छीन ली गई या लौटा दी गईं– यह बहुत पुराना इतिहास नहीं है। आज भी

जब दुश्मन को नीचा दिखाना या सबक सिखाना हो तो उसकी बहन बेटियाँ ही उठाई या भ्रष्ट की जाती हैं। औरत की स्थिति तो और भी नाजुक इसलिए है कि उसे अपने जीवन के हर क्षेत्र और हर स्थिति में उन्हीं अपराधों की सजा की तरह उसने औरत होकर अगले हर क्षेत्र में भेदभाव की जिन्दगी नहीं चुनी थी, उसी तरह उसने अपने काले–गोरे या सुन्दर–असुन्दर होने का चुनाव भी नहीं किया था। विवाह से पहले गर्भधारण कर लेना भी शायद उसका चुनाव नहीं था–न उसका चुनाव यह है कि विवाह के बाद भी वह गर्भधारण न करे और बाँझ कहलाए।"[4]

पुरूषों के लिए जो स्वच्छंदता मर्दानगी का प्रतीक मानी जाती है वही स्त्री को कुलटा की श्रेणी में डालता है। यौन विषय पर बात करना भी इसी मानसिकता के कारण इतना वर्जित था कि साहित्यकार भी यौन चर्चा से कतराते रहे। लगभग प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में प्रेम के व्यावहारिक रूप को नकारा जाने लगा था, खासकर उच्च वर्ग एवं मध्य वर्ग में अधिक प्रेम–प्रसंग की चर्चा प्रायः तवायकों के कोठे की चीज बन गई। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पशुता की श्रेणी का मानने लगा। चरित्र का निर्माण आचार–व्यवहार, आदर भाव, सुचिता, भाईचारा, सत्यवादिता, ईमानदारी, निडरता, सहिष्णुता जैसे अनेकानेक तत्वों के एकीकरण से होता है परन्तु प्रत्येक सभ्यता व संस्कृति में चरित्र का सबसे बड़ा आधार यौन सुचिता को मान लिण गया। स्त्री–मुक्ति विमर्श को अनेक मानकों पर परखा जा सकता है। स्त्री मुक्ति को पुरूष अपने दृष्टिकोण अथवा नजरिये से परखता है जो स्त्रियों की आकांक्षा से एकदम भिन्न होता है। जहॉ परंपरा, धर्म एवं संस्कृति के आधार पर अपना–अपना समाज स्त्रियों के स्वतंत्रता, अधिकार एवं अभिव्यक्ति का दायरा निर्धारित करता है वहीं पुरूष पर यह नियम लागू नहीं होता। आधुनिक आलोचकों ने तो कन्यादान पर भी अपनी राय व्यक्त करते हुए इस शब्द और परम्परा का प्रतिकार किया है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति रमेश माधव बापव ने शान्ति देवी बनाम रामलाल अग्रवाल (1998) मामले में निर्णय सुनाते हुए कहा है– "हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्तर्गत वैध विवाह के लिए कन्यादान अनिवार्य रस्म नहीं"। विद्वान न्यायमूर्ति के फैसले का आधार तर्क यह है कि 1978 के बाद हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 और बाल विवाह अधिनियम (निरोधक) में प्रावधान है कि विवाह के समय दूल्हे की उम्र 21 वर्ष और दुल्हन की उम्र 18 वर्ष से अधिक होनी चाहिए। इससे पहले जब नाबालिक बच्चों का विवाह किया जाता था तो पिता की सहमति अनिवार्य होती थी। यानी पिता द्वारा दामाद का पुत्री दान में देने का वह अर्थ अब पूर्णतया समाप्त हो गया है।"[5]

स्त्रियाँ यदि अपने आपको आर्थिक रूप से मजबूत बनाने के लिए कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होती हैं तो उनको वहाँ पर भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कार्यालयों में महिलाओं के यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देश अत्यन्त स्वागत योग्य है लेकिन मात्र कागजी बनकर ही रह जायेगा ऐसा सोचा न गया था। न्यायालय ने खुद स्वीकार

किया कि महिलाओं के यौन उत्पीड़न को रोकने में सबसे बड़ी खामी इसके कार्यान्वयन को लेकर रही। कार्यालयों में अनुशासन के नियम, विभागीय कार्यवाही आदि का प्रावधान तो पूर्व से ही रहा है। कामकाजी स्त्रियाँ तो फिर भी बेहतर स्थिति में है, उनकी अनेक आवश्यकताओं एवं समस्याओं का निराकरण उनके द्वारा कर लिया जाता है। परिवार के भीतर सामान्य स्त्रियों पर हो रहा शोषण और अत्याचार लगातार बढ़ा है। स्त्रियों का यौन शोषण मात्र कानूनी मामला नहीं है बल्कि सामाजिक मामला भी है। यदि सामाजिक बदलाव में आशाजनक सकारात्मकता नहीं मिलती तो सर्वोच्च न्यायालय के इस आदेश से भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकलने वाला है। भारतीय स्त्रियों की त्रासढ़ी यह भी है कि वह सारी क्रूरताओं, शोषण, उत्पीड़न और अत्याचार के बावजूद पति से अलग नहीं रहना चाहती है। वह हमेशा इसी विश्वास में जीती रहती है कि एक न एक दिन परिस्थितियाँ बदलेगी और हृदय परिवर्तन हो जायेगा।

महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कडियाँ' में स्पष्ट लिखा कि समाज ने स्त्री के सम्बन्ध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी से लेकर सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के सम्बन्ध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बन्धन में बंधी हुयी है। कहीं पुरूष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं अपने स्वामित्व को शक्ति से लाभ उठाकर उसे इतना अधिक परावलम्बी बना दिया है कि वह उसकी सहायता के बिना संसार–पथ पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।" स्त्रियों कि अनुभूतियों को अनेक लेखक और लेखिकाओं ने अपने ढ़ंग से लिखा। स्त्री–विमर्श का एक स्वर जो लोकगीतों में मिलता है। लोक में व्याप्त स्वर उन प्रत्येक निम्न पायदान पर खड़ी स्त्रियों की संघर्षों की कहानी बयाँ करते है जहाँ शिक्षा अभी ठीक से नहीं पहुँच पायी है। या यों कहें कि उनको अपने अधिकारों का ज्ञान न होना अपनी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर कोई स्वाभिमान नहीं। लम्बे अवधि तक अश्लील, कलाविहीन, कहकर लोकगीतों और लोकथाओं को मुख्य धारा के साहित्य से अलग करके देखा गया। लेकिन लोकगीतों की गहराई में छिपे स्त्रियों की गहन अनुभूतियों एवे उनकी मार्मिक स्थितियों का प्राकट्य देखने को मिलता है। सुनीता गुप्ता ने लिखा कि – "पनघट स्त्रियों का नितान्त निजी कोना हुआ करता था, घर की चार दीवारी से बाहर दो पलों के लिए स्त्रियाँ अपनी दुनियाँ बसाती थीं और अपने सुख व दुखों का साझा किया करती थी। ऐसे ही किसी पनघट पर स्त्रियाँ जल भरने के लिए गयी हैं। कोई पानी भर रही हैं तो कोई बात कर रही हैं। कोई स्त्री रो रही है। स्त्रियों में बहनापा पनपते देर नहीं लगती। स्त्रियाँ उससे रोने का कारण पूछती हैं– क्या सास ससुर दुःख देते है, क्या पति परदेश गए हैं, क्या मायका बहुत दूर है? ये स्त्रियों के दुख हुआ करते थे। ये वे स्थितियाँ थी जो उनकी नियति लिखती थी, किन्तु जिनपर उनका कोई नियंत्रण

नहीं हुआ करता था। वह स्त्री जवाब देती है– नहीं उसे ऐसा कोई दुख नहीं है, वह तो अपनी कोख को रो रही है। सास, ननद उसे ताने मारती हैं, यहाँ तक कि पति भी उपालम्भ देता है–

सासु मोरी कहेली बझिनियाँ ननद ब्रजवासिन हो
रामा जिनकी मैं वारी रे बियाही उइ घर से निकारेलि हो।[6]

पितृसन्तात्मक समाज में वंश परम्परा को चलाने के लिए पुत्र का होना अनिवार्य माना जाता है। ऐसे में कई स्त्रियों को इसलिए अपमानित किया जाता है कि परिवार को वंश चलाने में नाकाम रही। जबकि वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध किया जा चुका है कि पुरूष के पास X और Y गुणसूत्र होते हैं और स्त्री के पास सिर्फ X गुणसूत्र पाया जाता है। अति तो तब हो जाती है जब बच्चे न पैदा होने का ठीकरा सिर्फ स्त्री के ऊपर फोड़ दिया जाता है। पुरूष अपने पुरूषत्व की जांच करवा लेता तो न जाने कितनी स्त्रियों को बॉझ शब्द का कलंक न झेलना पड़ता। श्रमशील स्त्रियों की स्थिति का चित्रण और उनकी स्थिति का काफी कुछ अन्दाजा इन लोकगीतों से मिलता है। खेती के अलावा गेहूँ पीसना स्त्रियों की दैनिक दिनचर्या में सम्मिलित रहता था। गीत गाते हुए जाँत को चलना श्रम को भुलाने वाला रहता था। ये गीत जॅतसार के गीत कहे जाते है। इन गीतों में घरेलू शोषण, अत्याचार, सास और ननद के प्रकोप का वर्णन बडे शालीन शब्दों में मिलता है। इन गीतों की मार्मिकता एवं अनुभूति पक्ष का अध्ययन करने से तत्कालीन समाज में स्त्रियों के स्थिति, विचार आदि का पता चलता है। संयुक्त परिवार सास के द्वारा प्रताड़ित एक स्त्री की व्यथा निम्न पंक्तियों के माध्यम से समझी जा सकती है–

सेर भर गेहुँआ के सास जोखि दीहली हो राम
आरे जॅतवा गड़वली गजओबरि हो राम
जॅतवा धइल सॉवरि झुरावेली हो राम।

पति का घर अर्थात् ससुराल स्त्रियों के लिए वह स्थान होता था जहॉ कार्य से अवकाश के लिए कोई जगह नहीं थी, पति की कमाई पर ही ससुराल में उसके मान–सम्मान एवं महत्व का निर्धारण होता था। इन परिस्थितियों का चित्रण जॅतसार के गीत में जगह–जगह परिलक्षित होते है–

जहिया से अइली पिया तोहरी महालियां मे
रात दिन कइलीं टहलिया हो पियवा
सुखवा सपनवा होउ गइल हो पियवा।
सुखवा सपनवा होउ गइल हो पियवा।

यह तो कुछ थोड़े से दृश्य हैं जो स्त्रियों की मार्मिक दशा को व्यक्त करते हैं, इस प्रकार के गीतों की संख्या बहुत है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. चौखट पर स्त्री : सम्पादक संजीव चंदन पृष्ठ सं0 13 अनन्य प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण 2017
2. चौखट पर स्त्री : सम्पादक संजीव चंदन पृष्ठ सं0 24–25 अनन्य प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण
3. आदमी की निगाह में औरत : राजेन्द्र यादव पृष्ठ सं0 15 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण
4. आदमी की निगाह में औरत : राजेन्द्र यादव पृष्ठ सं0 33,34 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली चौथा संस्करण
5. औरत होने की सजा : अरविन्द जैन पृष्ठ सं0 43 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 2011
6. चौखट पर स्त्री : सम्पादक संजीव चंदन पृष्ठ सं0 119 अनन्य प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण 2017

पौराणिक कथाकार मनु शर्मा एवं जीवन मूल्य

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी)
मा०गा०चि०ग्रा०वि०वि०
चित्रकूट, सतना, म०प्र०

गायत्री देवी

शोध छात्रा (हिन्दी)
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृत विभाग,
मा०गा०चि०ग्रा०वि० वि०
चित्रकूट, सतना, म०प्र०

प्राचीन कथाओं का विशद् वर्णन ही पौराणिक साहित्य है। जिसमें लोकमंगल की भावना को जन्म देने वाली उपदेशात्मक कथाएँ एवं आदर्श चरित्रों की उदात्तता आदि पुराण गाथाओं में समायी हुई हैं; तथा जो जीवन जगत की सशक्त एवं जीवंत अभिव्यक्ति एक कुशल चित्रकार की भाँति सभी पक्षों को मूर्तिमान करने की कोशिश करता है, वह कथाकार होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पुराण हमारी अमूल्य निधि हैं। पुराणों में वर्णित सत्य, अहिंसा, त्याग, दान, दया, धर्म, कर्तव्य एवं विभिन्न प्रकार की भावनिष्ठाएँ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में निश्चय ही प्रेरणा प्रदान करने वाली हैं। कुण्ठाग्रस्त धर्मच्युत मानव को युगबोध से परिचित कराने में भी पुराण आख्यानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक साहित्य की महत्ता को बहुआयामी बताते हुए कृष्ण मणि त्रिपाठी कहते हैं कि "पुराण अतीत गौरवगान के साथ वर्तमान में सुख–शांति का सन्देश देते हैं। उनका विषय प्राचीन है तो भी उनकी समस्याएँ तथा समाधान नित नूतन और चिरंतन सत्य हैं।"[1] तभी तो कहा गया है कि "पुरा अतीतानागातौ अर्थौं अणति" अर्थात् पुराणों में हमें भूत और भविष्य के अर्थों का स्पष्टीकरण मिलता है।[2] किसी भी देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके गहनतम् रहस्य की सीमा तक पहुँचने के लिए पुराण साहित्य ही उसकी सबसे अच्छी कुंजी है। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है। जिस जाति के जीवन में उसकी पौराणिकता मिट गयी, पुराने विश्वास धुंधले पड़ गये, जीवन के परम्परागत मानदंड बिखर गये, उस जाति की समूची संस्कृति का अंत हो गया। वहीं दूसरी ओर लोक जीवन में साहित्य एवं कला के रूपों में जो जाति पौराणिक आधार को संवारती चली, उसकी

संस्कृति के विकास का क्रम कभी नहीं टूटा। पौराणिक साहित्य का एक और पहलू यह भी है कि इसमें देश प्रेम की झलक मिलती है। जिससे देश में भावात्मक एकता एवं धार्मिक सहिष्णुता का संचार होता है।

जहाँ जीवन की श्रेष्ठता को बनाएं रखने के लिए कुछ मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक होता है, वही मूल्य होते हैं। जीवन मूल्य हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, प्रथाओं, रीतिरिवाजों, सामाजिक विश्वासों, मान्यताओं एवं मानव आदर्शों का निचोड़ है। मूल्य का तात्पर्य भौतिक वस्तुओं से नहीं बल्कि मानवीय चिंतन एवं व्यवहार से होता है। सत्य, अहिंसा, त्याग, दया, दान, धर्म, प्रेम इत्यादि शाश्वत मूल्यों का निर्माता मानव ही है, जो युग सापेक्ष होते हैं। डॉ० धर्मवीर भारती की राय में "वस्तुतः मूल्य विराट मानव जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्त प्रवाह रुका, वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है।"[3] मूल्यों की महत्ता एवं उनकी व्यापकता को बताते हुए डॉ रामगोपाल सिंह चौहान कहते हैं कि "व्यक्ति बिना जीवन मूल्यों के अधिक दिनों तक नहीं रह सकता, विकृतियाँ कभी जीवन मूल्य नहीं बनी है, भले ही सारे राष्ट्र को उन्होंने अभिभूत कर दिया हो। व्यापक राष्ट्रीय लक्ष्य और विचारधारा के आधार पर व्यक्ति के चरित्र की अच्छाईयाँ ही, सारे राष्ट्र की अच्छाई का आधार बनती हैं, सदा जीवन मूल्य बना करती हैं और पुराने जीवन मूल्य के प्रवाह क्रम में ही अपना नया विकास करती हैं। जीवन मूल्यों में कुछ काल सापेक्ष तत्व होतें हैं तो कुछ काल निरपेक्ष तत्वद्य युग परिवर्तन में काल सापेक्ष जीवन मूल्य अपनी महत्ता खो बैठते हैं, लेकिन काल निरपेक्ष जीवन मूल्य नये जीवन मूल्यों की विरासत होते हैं।"[4]

आचार्य विनोवा भावे जी पौराणिक साहित्य और जीवन मूल्यों के परस्पर सम्बन्ध को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "पौराणिक आख्यानों का भारतीय जीवन मूल्यों से अटूट सम्बन्ध है। पुराणों में प्रयुक्त आख्यानों के अंतर्गत नैतिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश निहित है अधिकतर पौराणिक आख्यान के पीछे कोई खास जीवन दृष्टि है। भारतीय चिंतन धारा ने पुरुषार्थ या चार जीवन मूल्यों को जीवन का साक्ष्य स्वीकार किया है।"[5] जैसा कि सर्वविदित है की जीवन मूल्यों में युग सापेक्ष दृष्टि का आना स्वाभाविक है। भारत में प्राचीन और आधुनिक जीवन मूल्यों में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है, यह हर युग की अपनी विशेषता होती है कि पुराने जीवन मूल्यों के प्रति विद्रोह और नये जीवन मूल्यों की स्थापना की कोशिश की जाती है। एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि व्यापक हित की अपेक्षा स्वहित का अधिक महत्व दिए जाने वाले जीवन मूल्यों पर जीवन की सार्थकता कभी नहीं टिकती। जीवन में मूल्यों की रिक्तता आती है तो उसे जीवन जीना नहीं कहते हैं। सर्वविदित है कि आज भारतीय समाज के चारो ओर मूल्य विघटन तेजी से हो रहा है। असंतोष और अशांति फैल रही है। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप भारतीय जनमानस की मानसिकता भी पूर्व की अपेक्षा बिगड़ती जा रही है।

अपनी मूल्यवान संस्कृति और सभ्यता को भूलकर भारतीय जनता विदेशी सभ्यता के पीछे भटक रही है। प्रतिफल ह्रासोन्मुख होने वाली भारतीय संस्कृति एवं जीवन मूल्यों की ओर संकेत करते हैं। तभी तो डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने कहा है कि "सत्य का दीवठ जाने कहाँ लुढ़ककर चला गया है, तप का तेल तो जाने कब सूख गया है, दया की बाती जाने सदियों से पूरी नहीं गयी, पूरी जाति तो इतने बड़े पैमाने पर भाई–भाई में गला काट व्यवहार इतनी बड़ी दुखान्तिका को जन्म कहाँ से दे पाता और क्षमा की शिक्षा तो उसकी ही नहीं, क्षमा के नाम पर खीस भरी दन्त निपौरी।"[6] आध्यात्मिकता को छोड़कर भौतिकता की ओर बढ़ने वाली मानव जाति, जब हृदयहीनता, स्वार्थपरता, व्यक्तिपरता से दुखी एवं क्षुब्ध हो जाती है, तब एक संवेदनशील लेखक समस्त मानव जाति को आध्यात्मिक रंकता और विसंगतियों के जाल में उलझकर विघटित होने से बचाना अपना फर्ज समझता है। मूल्यों को मरते वह कभी नहीं देखना चाहता। वह सदैव मानव को प्रेम, श्रृद्धा, आस्था, कर्तव्य–भावना आदि उच्च मानव धर्मों पर चलने की प्रेरणा देता है। नैतिक पतन के कारण जिस अंधकूप में व्यक्ति गिर रहा है, वहां आलोक प्रदान करने के लिए मनु शर्मा जी जैसे कथाकार पौराणिक आख्यान पर आधारित साहित्य रूपी मशाल लेकर पथ–प्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह करते हैं। "द्रोण की आत्मकथा" उपन्यास में आचार्य द्रोण जब तक स्वजीवी थे तब तक उनकी शिक्षा समाज के लिए सार्थक थी किन्तु जब वह परिस्थितियों वश परजीवी बने अर्थात् पुत्र की क्षुधा मिटाने हेतु मित्र से सहयता माँगने पर अपमनित करना, एवम् राज्याश्रित होकर शिक्षा को स्वर्णखण्डों मे बेंचना, तभी उस शिक्षा में ईर्ष्या और द्वेष का समावेश हो जाता है। प्रतिफल एकलव्य का अँगूठा कटा और दुर्योधन जैसे– उदण्ड शिष्य का कभी विरोध न हो सकाद्य इसीलिए कहा जाता है कि दन्तहीन सर्प, बँधा हुआ सिंह, और बिका हुआ आचार्य सचमुच बडा निरीह प्राणी होता है। उक्त सन्दर्भ आचार्यत्व पर कलंक है। जब एक माँ अपने पुत्र को जन्म देते ही गंगा में बहा दे वहाँ मातृत्व सामाजिक तिरस्कार एवम् अपमान के समक्ष झुक जाता है। परमवीर, दानवीर कर्ण जो मानवीय शौर्य एवं सम्मान के शिखर पर पहुँचा हुआ अपने वास्तविक जीवन की वर्जनाओं एवं अपमानजनक सामाजिक स्थितियों के कारण उसका अंतर्मन हठधर्मिता और प्रतिशोध की भावना से भर जाता है। यदि कर्ण अहंकार व प्रतिशोध की भावना से दग्ध नहीं होता तो आर्यावर्त का सबसे यशस्वी व्यक्ति होता। कर्ण ने दुर्योधन के साथ अपने मित्र–धर्म को मानव

पुराणों में वर्णित सत्य, अहिंसा, त्याग, दान, दया, धर्म, कर्तव्य एवं विभिन्न प्रकार की भावनिष्ठाएँ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में निश्चय ही प्रेरणा प्रदान करने वाली हैं। "पुराण अतीत गौरवगान के साथ वर्तमान में सुख–शांति का सन्देश देते हैं। उनका विषय प्राचीन है तो भी उनकी समस्याएँ तथा समाधान नित नूतन और चिरंतन सत्य हैं।

किसी भी देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके गहनतम् रहस्य की सीमा तक पहुँचने के लिए पुराण साहित्य ही उसकी सबसे अच्छी कुंजी है। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।

मूल्यों के उच्चतम शिखर पर स्थापित किया है। उक्त जीवन मूल्यों के विघटन को "कर्ण की आत्मकथा" उपन्यास में चित्रित किया है। वहीं "अभिशप्त कथा" में काम, सत्ता और महत्वाकांक्षा के उद्देश्य की एकनिष्ठता एवं एकाग्रता की अस्मिता के त्रिकोण की कथा जिसमें तीन अनिद्यं सुंदरियों जयंती, देवयानी, शर्मिष्ठा के बीच रहकर कच नैतिकता एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने उदात्त उद्देश्य संजीवनी विद्या प्राप्त करने में सफल हो जाता है। प्रेम की चरम सीमा पर भी कच स्खलित नहीं होता और लक्ष्य प्राप्ति हेतु पवित्र प्रेम को न्योछावर कर देता है। जब कि देवराज इंद्र और राक्षसराज वृषपर्वा संजीवनी विद्या के लिए नहीं बल्कि सत्ता और सिहांसन के लिए अपनी–अपनी पुत्री गुरु शुक्राचार्य को अर्पित कर देतें हैं। पुत्री समर्पित करने की जघन्य प्रवृति आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है। इसमें संदेह नहीं है कि द्रौपदी महाभारत कालीन एक विदुषी महिला थीद्य कौरवों की सभा में जब उसका चीर हरण हो रहा था तब किसी संभावित अनिष्ट को टालने लिए धृतराष्ट्र ने द्रौपदी से तीन वर मांगने को कहा– पहले वर में, धर्मराज युधिष्ठिर को दासता से मुक्त कराया। दूसरे वर में, चारों भईयों को शस्त्रों सहित छुड़ाया। तीसरे वर में, उसने कुछ नहीं माँगा। क्योंकि उसके स्वविवेक ने कहा कि "लोभ से धर्म का नाश होता है।" उसके इस विवेकशीलता की तारीफ अंगराज कर्ण ने भी की। चीर हरण के दौरान द्रोणाचार्य चुप थे, निहत्थे अभिमन्यु को घेरकर मारने में गुरु द्रोण शामिल थे। बावजूद इसके गुरु और ब्राह्मण होने के नाते द्रौपदी ने उन्हें मांफ किया। द्रौपदी ने सदैव उनका उचित आदर और सम्मान किया। गुरुपुत्र होने के कारण ही अश्वत्थामा का वध नहीं होने दिया जब कि गुरु पुत्र अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को सोते समय मार डाला था फिर भी द्रौपदी ने उसे क्षमा दान दिया। ये था द्रौपदी का नैतिक शिखर और उसके चरित्र की विलक्षणता। उक्त पौराणिक आख्यानों को "द्रौपदी की आत्मकथा" में नियोजित किया है। "कृष्ण की आत्मकथा" उपन्यास में कृष्ण को एक कर्मशील, न्यायप्रिय जननायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह लगन, परिश्रम, बुद्धिदृकौशल, चातुर्य, कूटनीति के प्रयोग द्वारा जिस सफलता तथा महान लक्ष्य की प्राप्ति करतें है उससे व्यक्ति सामान्य से लोकनायक बन जाता है। निरंकुशता, तानाशाही तथा अत्याचार जनसंघर्ष के सामने परास्त हो जाता है। जनसंघर्ष सर्वशक्तिमान सत्ता को पराजित कर देता है। कृष्ण इसी जनसंघर्ष के महानायक हैं और वह सामान्य से विशिष्ट बन जाते हैं। उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि लगन, परिश्रम और संघर्ष साधारण से साधारण व्यक्ति को महान एवं पूजनीय बना देते हैं। जहाँ एक ओर कृष्ण को भारतीय वांग्मय में गोपाल, द्वारिकाधीश और गीता के उपदेष्टा के रुप में जाना जाता है, वहीं दूसरी ओर उनके विराट अविभाजित व्यक्तित्व जो चारित्रिक विसंगतियों से भरा पड़ा है, जिसमें वह रागी भी हैं विरागी भी हैं, योगी भी हैं भोगी भी है, नर भी है नारायण भी है, रणदुर्मद भी है रणछोड़ भी हैं, चक्रधर भी और मुरलीधर भी हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व जो समस्त मानवीय गुणों से भरा हुआ है जो आधुनिक समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत है। जगविदित है कि

भारतीय संस्कृति में धर्म का अधिक महत्त्व है। हमारे समाज में धर्मानुसार शिष्टाचार की औपचारिकता का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसमें माता–पिता, गुरु एवं अग्रजों के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद लेने की परम्परा है। इसका पालन इनके समस्त उपन्यासों में अधिकांश पात्रों द्वारा किया गया है, चाहे वह माता पिता के प्रति किया गया आदर भाव हो या गुरुजनों के प्रति विनम्र श्रृद्धा या फिर अपने बड़ों का अभिवादन के साथ सेवा भाव रहा हो, यहाँ तक की पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में आए सभी अतिथियों के पाँव धोने का काम स्वयं कृष्ण करते हैं।

निष्कर्षतः उपर्युक्त पौराणिक आख्यानों से स्पष्ट है कि "महाभारत आज भी उतना ही प्रासंगिक एवं उपयोगी है जितना उस समय था। वही समस्याएँ और चुनौतियाँ आज भी हमारे सामने है, चाहे वह राजसत्ता के भीतर होने वाला षड्यंत्र हो, राजसत्ता का बेकाबू मद, बिक चुकी शिक्षा व्यवस्था या फिर छल–कपट से मारे जाते अभिमन्यु, सब आज मौजूद है। आज भी द्रौपदियों का अपमान हो रहा है, कर्ण नदी–नाले में बह रहे है।" इस तरह से स्पष्ट रूप से देखा ज सकता है कि मनु शर्मा का साहित्य वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रेरणा का स्रोत है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. श्री कृष्ण मणि त्रिपाठी,पुरातत्व मीमांसा, पृ०13
2. अमरकोष, तृतीय खण्ड, श्लोक–65
3. डॉ धर्मवीर भारती, मानव मूल्य और साहित्य, पृ०34,35
4. डॉ रामगोपाल सिंह चौहान,आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ०26
5. विनोवा भावे, जीवन और शिक्षण, पृ०116
6. डॉ विद्या निवास मिश्र, आधुनिक निबन्धावली, पृ०125
7. द्रोण की आत्मकथा,मनु शर्मा,प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
8. कर्ण की आत्मकथा,मनु शर्मा,प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
9. अभिशप्त कथा,मनु शर्मा,प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
10. द्रौपदी की आत्मकथा,मनु शर्मा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
11. .कृष्ण की आत्मकथा,मनु शर्मा,प्रभात प्रकाशन,दिल्ली
    - नारद की भविष्यवाणी
    - दुरभिसंधि
    - द्वारका की स्थापना
    - लाक्षागृह
    - खांडवदाह
    - राजसूय यज्ञ
    - संघर्ष
    - प्रलय

विद्यार्थियों के जीवन में इंटरनेट की भूमिका : वर्तमान परिदृश्य में

डॉ0 कृपा शंकर यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर
शिक्षक–शिक्षा विभाग

प्रस्तावना–

इंटरनेट का उपयोग आजकल हर क्षेत्र में हो रहा है जैसे शिक्षा व्यापार सरकारी कार्य स्वास्थ्य सेवाएं और मनोरंजन यह एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है जो हमें विश्व व्यापी सूचना और संसाधनों तक पहुंच पहुंच प्रदान करता है। इंटरनेट के बिना हमारे दैनिक जीवन की कल्पना करना मुश्किल हो जाती है इंटरनेट का उपयोग कोई निश्चित सीमा नहीं है प्रतिदिन इसके नए–नए प्रयोग हमारे सामने आ रहे हैं इंटरनेट के माध्यम से सूचनाओं समाचार और अनुसंधान सामग्री प्राप्त और प्रेषित की जा सकती है इस पर बैंकिंग निवेश संबंधी कार्य वस्तुओं की खरीदारी तथा विभिन्न कंपनियों और प्रोफेशनल व्यक्तियों की सेवाएं प्रदान कर सकते हैं इंटरनेट कनेक्शन विभिन्न व्यक्तिगत कार्य जैसी ईमेल भेजने ऑनलाइन भुगतान करने फिल्में देखने और संगीत चलाने वीडियो कॉल करने के लिए बहुत उपयोगी है। इंटरनेट दुकान और खुरदरा बाजारों में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि यह ऑनलाइन ऑर्डर बेचने और बनाने में मदद करता है।

आजकल इंटरनेट, टेलीविजन, मोबाइल, नेटवर्क और ग्लोबलाइजेशन की वजह से दुनियां तेजी से आगे बढ़ रही है और समय के साथ बच्चों में भी परिवर्तन आ रहा है। यह गांरटी नहीं है कि पढ़–लिखकर उन्हें अच्छी नौकरी मिल जाएगी। जिन्दगी पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित हो गयी है, हर क्षेत्र में प्रतिद्वंद्विता बढ़ गयी है। किशोर अपने आसपास जो देखते है, फौरन ग्रहण कर लेते है। सिनेमा, किताबें, दोस्तों की बाते रोज उनके ज्ञान में इजाफा करती हैं। वे अपनी उम्र से कुछ ज्यादा ही जान जाते है। उनका ये ज्ञान उन्हें अच्छा भी बना रहा है तो कहीं बुरा भी।

आज का युग संचार का युग है आज समाज में कुछ भी असम्भव नहीं है। संचार माध्यम ने समाज के हर पहलु को छुआ है। और जिसका असर प्रत्येक व्यक्ति के घर–घर में दिखाई देता है। संचार माध्यम ने सूचना से लेकर मनोरंजन तक के सभी साधन मनुष्य को दिया है। संचार माध्यम के कार्यक्रमों ने चाहे वह सिनेमा हो या फिर धारावाहिक इसने सभी व्यक्ति के मन में चाहे वह बच्चे हो या फिर बड़ों सभी में अपनी एक विशेष जगह बना ली है। उठते–बैठतें,

खाते–पीते हर समय हम बस इसी को देखते है। खास कर बच्चों पर इसका सीधा प्रभाव होता है।

कुमार, यतेन्द्र (2015) ने अध्ययन के माध्यम से इंगित किया कि बदलती दुनिया ने किशोरों के जीवन शैली को एक नया मोड़ दे रही है साथ ही वैश्वीकरण, आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण ने समाज की आवश्यकता में बदलाव के साथ युवा पीढ़ी महत्वाकांक्षी बन रहे है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव उनके जीवनशैली पर पड़ रहा है। मोबाइल एवं इण्टरनेट आदि संचार माध्यमों का उपयोग बढ़ रहा है जिससे शहरी किशोरों के साथ–साथ ग्रामीण किशोरों में भी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। जीवनशैली में परिवर्तन के कारण अनेक समस्याएँ जन्म ले रही है जैसे लिव इन रिलेशनशिप जैसी विचारधारा बदलते परिवेश का परिणाम है। पाश्चात्य खान–पान एवं रहन–सहन से स्वास्थ्य में गिरावट तथा भारतीय संस्कृति को ठेस पहुँच रही है। **जोशी, पूनम (2015)** ने अध्ययन के निष्कर्ष में इंगित किया कि– आज मीडिया समाजीकरण का माध्यम बनता जा रहा है। इसमें प्रचारित– प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों ने व्यक्ति की ना केवल सोच में परिवर्तन किया है बल्कि उनकी जीवनशैली को भी प्रभावित कर रहा है। **शर्मा, शुभ्रा (2017)** ने अध्ययन के निष्कर्ष में इंगित किया कि– इंटरनेट का भारतीय जनमानस पर बहुत गहरा असर डाल रहा है साथ ही युवा वर्ग और बच्चों पर इसका प्रभाव अधिक पड़ रहा है। इंटरनेट आज के समय पर यह हमारे जीवन का अभिन्न हिस्सा बनता जा रहा है। इंटरनेट से लोगों की जीवन शैली पर बहुत बदलाव आया है, उनके सोचने–समझने का तरीका, उनका रहन–सहन, विचार, बोली, भाषा, काम करने का तरीका, पहनने, ओढ़ने का सलीका, मित्र वर्ग तथा लाइफ पार्टनर को चुनने का भी इंटरनेट की वजह से काफी आसान हो गया है और भी कई बहुत सी सुविधायें है जो हमें इंटरनेट की वजह से प्राप्त हुई है, इस प्रकार इंटरनेट का हमारी भारतीय संस्कृति पर प्रभाव पड़ा है वहीं छोटे–बड़े कार्यों के लिए इन्टरनेट पर ही आश्रित हो गयी है। बिना इंटरनेट के उसका कार्य सम्पन्न नहीं होते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि इंटरनेट माध्यमों का नकारात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आज इंटरनेट माध्यमों के अधिक उपयोग एवं उसका दुरूपयोग व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए हानिकारक एवं समस्या पैदा करता है। मोबाइल आज मनोरंजन का सबसे बड़ा और लोकप्रिय साधन है। छोटे बड़े सभी बिना किसी प्रयास के अपना समय बिता लेते हैं और बार–बार सकारात्मक सोच के साथ बचपन से ही माता–पिता बच्चों को मोबाइल एवं कम्प्यूटर से जोड़ने का प्रयास करते हैं किन्तु ''अति सर्वत्र वर्जयेत'' बहुत अधिक समय तक इंटरनेट माध्यमों के प्रयोग बच्चों के हानिकारक हो सकता है। शुरू शुरू में तो सबको अच्छा लगता है की वह नये नये चीजों से पूरी तरह अवगत है स्वयं ही उसका उपयोग कर सकता है किन्तु ध्यान देने की आवश्यकता है।

इंटरनेट सूचना का एक बहुत बड़ा स्रोत है। इंटरनेट इंटरनेशनल नेटवर्क का संक्षिप्त रूप है। यह विश्व में फैले हुए सभी छोटे–बड़े कम्प्यूटरों का एक विश्वव्यापी जाल है। इंटरनेट कुछ समान नियमों का पालन कर विभिन्न संचार माध्यमों के द्वारा एक–दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर, सूचनाओं का आदान–प्रदान करना संभव बनाता है।

इंटरनेट दुनिया का सबसे बड़ा नेटवर्क है। इंटरनेट (Internet) को नेटवर्कों का नेटवर्क इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह विश्व में फैले हुए व्यक्तिगत, शैक्षिक, सार्वजनिक, व्यापारिक तथा सरकारी नेटवर्कों के आपस में जुड़ने से बनता है।

आज का युग कम्प्यूटर तथा इंटरनेट का युग है। आज इंटरनेट की पहुँच करोड़ों उपयोगकत्ताओं तक है इसके बहुउद्देश्यीय उपयोग ने इसे हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बना दिया है।

सिराज (2015). ने अध्ययन के माध्यम से इंगित किया कि– इंटरनेट के माध्यम से एक ही समय में एक अलग स्थान से अपने विचार और जानकारी का आदान–प्रदान करने के लिए एक–दूसरे के साथ बातचीत करने का मौका मिला। इंटरनेट महत्वपूर्ण सूचना और संचार प्रौद्योगिकी है जिसने सूचना परिदृश्य में दुनिया भर में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। छात्रों के बीच बातचीत, समस्या निवारण रणनीतियों में अन्य शिक्षार्थियों के साथ अपनी स्वयं की सीखने की गतिविधियों को साझा करके समस्या चर्चा पर अलग–अलग दृष्टिकोण प्राप्त करने की पेशकश करती है।

शाहा एवं गुहा (2019) ने अध्ययन में निष्कर्ष इंगित किया कि– इंटरनेट और सोशल मीडिया के इस्तेमाल से स्वस्थ जीवन मिलता है और सीखने का अभ्यास समृद्ध होता है।

वर्तमान समय में इंटरनेट पर जो प्रमुख सुविधाएँ हैं वह निम्न है– इलेक्ट्रॉनिक मेल चैटिंग, ई–कॉमर्स, वीडियो कान्फ्रेसिंग, ऑनलाइन शॉपिंग, वर्ल्ड वाइड वेब, वॉइस ओवर इंटरनेट, प्रोटोकॉल, इंटरनेट प्रोटोकॉल, टी0वी0, सोशल नेटवर्किंग साइट आदि।

पिछले कुछ सालों में भारत में इंटरनेट यूजर्स की संख्या तेजी से बढ़ी है। इंडस्ट्री बॉडी इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया (आईएएमएआई) ने एक महीने में इंटरनेट पर एक्टिव रहने वाले लोगों पर एक सर्वे किया है। इंडिया इंटरनेट 2019 शीर्षक वाली रिपोर्ट में कहा गया है कि अब भारत इंटरनेट के इस्तेमाल के मामले में चीन के बाद दूसरे स्थान पर है। इसके मुताबिक दुनिया में कुल इंटरनेट यूजर्स में भारत की हिस्सेदारी 12 फीसदी हैए दुनिया में करीब 3ण्8 अरब लोग इंटरनेट का इस्तेमाल करते हैं। इसमें 21 फीसदी इंटरनेट यूजर्स के साथ चीन शीर्ष पर है।

भारत में कुल 451 मिलियन लोग इंटरनेट का उपयोग करते हैं, जिनमें से 67 प्रतिशत पुरुष हैं। इसके बावजूद भारत में इंटरनेट की सुविधा महज 36 फीसदी क्षेत्र तक ही पहुंच पाई

है। यही कारण है कि अभी भी इस क्षेत्र में और वृद्धि की जरूरत है। रिपोर्ट में पाया गया कि दैनिक आधार पर इंटरनेट का उपयोग करने वाले शहरी इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या 72 प्रतिशत (लगभग 139 मिलियन) है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण इंटरनेट की संख्या 57 प्रतिशत; लगभग 109 मिलियन है।

रिपोर्ट के मुताबिक कहा जा रहा है कि भारत में करीब दो–तिहाई आबादी अच्छी कनेक्टिविटी, अच्छी सेवा और मोबाइल इंटरनेट की उपलब्धता के साथ.साथ भविष्य में ग्रामीण इलाकों में इंटरनेट का ज्यादा इस्तेमाल करेगी।

रिपोर्ट के आधार पर देश में इंटरनेट के इस्तेमाल में जेंडर गैप ग्रामीण इलाकों में ज्यादा है। रिपोर्ट के आधार पर केरलए तमिलनाडु और दिल्ली में महिला इंटरनेट यूजर्स का अनुपात ज्यादा है। एक महीने में इंटरनेट पर सक्रिय होने वाले 45ण्1 करोड़ यूजर्स में से 38.5 करोड़ यूजर्स की उम्र 12 साल से ऊपर है जबकि 6.6 करोड़ यूजर्स की उम्र 5 से 11 साल के बीच है जो परिवार के सदस्यों के मोबाइल या कंप्यूटर पर इंटरनेट का इस्तेमाल करते हैं। राज्य स्तर पर इंटरनेट इस्तेमाल करने वालों की बात करें तो इसमें दिल्ली पहले नंबर पर है। इसके बाद आता है केरलए हरियाणाए हिमाचल प्रदेश और पंजाब।

शहरों के आधार पर इंटरनेट यूजर्स 1.7 मिलियन के साथ पहले स्थान पर हैं जबकि दिल्ली 1.12 मिलियन इंटरनेट यूजर्स के साथ दूसरे स्थान पर है। इसके बाद 6.1 मिलियन यूजर्स के साथ बेंगलुरु और कोलकाता संयुक्त तीसरे स्थान पर हैं, जबकि 5.4 मिलियन यूजर्स के साथ चेन्नई चौथे स्थान पर है।

इंटरनेट किस तरह शिक्षा को बदल रहा है

ऑनलाइन शिक्षा का सही इस्तेमाल शिक्षा के साधनों को काफी हद तक सुधार सकता है इसके साथ ही यह शिक्षकों को तैयारी करने और छात्रों को शिक्षा के दायरे को बड़ा करने का विकल्प भी देता है शिक्षक हर छात्र की अलग जरूरत को भी समझ पाता है और उन्हें उनके हिसाब से पढ़ सकता है शिक्षा के लिए इंटरनेट को इस्तेमाल करने का एक बड़ा फायदा यह है कि शिक्षा दूरस्थ और ग्रामीण इलाकों तक पहुंच रही है ऐसी जगह पर खास तौर पर लड़कियों को शिक्षा में असमानता का सामना करना पड़ता है।

शिक्षा में इंटरनेट की भूमिका

शैक्षिक ई–मेल करने में इंटरनेट का उपयोग बहुत ही सुगमता पूर्ण संचार का माध्यम है। आधुनिक युग में इंटरनेट को जादू, विज्ञान का चमत्कार या वरदान से कम नहीं है। इंटरनेट की सहायता से शैक्षिक ई–मेल के माध्यम से छात्रों, शिक्षकों तथा शैक्षिक संस्थानों में कार्यरत कर्मचारियों से सम्पर्क किया जाता चाहे किसी संस्था में नामांकन हो, कार्यालय से संबंधित कार्य हो या फिर छात्रों को पाठ्यक्रम से संबंधित कोई जानकारी देनी हो इसके अतिरिक्त भी इंटरनेट

के बहुत सारे उपयोग किये जाते हैं। संचार के क्षेत्र में इंटरनेट ने क्रांति ला दी है। इंटरनेट की दुनिया ने संचार के ऐसे–ऐसे संसाधन प्रस्तुत किए हैं जिससे एक जगह से ही एक साथ कई लोगों से हम वार्तालाप मीटिंग सेमिनार वर्कशॉप ऑनलाइन क्लासेस जैसे कई सुविधाओं का लाभ बड़ी ही सुगमता से ले सकते हैं। इंटरनेट का की उपयोगिता दूरस्थ शिक्षा में भी बहुत लाभकारी है यह छात्रों की ज्ञानार्जन के लिए एक ऐसा साधन है जिसके लिए छात्रों को कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि घर पर रहकर ही समय तथा धन की बचत करते हुए इंटरनेट के द्वारा कक्षाओं में प्रतिभाग करते हैं। सरकार ने छात्रों को इंटरनेट के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने पर बल दिया है जिसके लिए माध्यमिक स्तर पर कंप्यूटर शिक्षा को अनिवार्य रूप से प्रदान किया जा रहा है।

शिक्षा में इंटरनेट का इस्तेमाल जानकारी और कम्युनिकेशन को शेयर करने में मदद होता है इतना ही नहीं छात्र ऑनलाइन लेक्चर लेने के साथ कई सारे मल्टीमीडिया फॉर्मेट पर मौजूद पाठ्यक्रम को भी देख पाते हैं यह शिक्षकों को भी पाठ्यक्रम में अनेक टूल्स इस्तेमाल करने का विकल्प देता है बातचीत में आसानी आसान लर्निंग किताबें और पाठ्यक्रम खरीदना आमतौर पर काफी महंगा होता है हालांकि ऑनलाइन कोर्स और जानकारी के दूसरे संसाधनों के साथ पाठ्यक्रम ऑनलाइन काफी किफायती हो गया है बहुत सारी ऑनलाइन वेबसाइट और डाटा रियल टाइम अपडेट मिलती है शोध बताते हैं कि मल्टीमिटी मीडिया इंटीग्रेशन का भी उसे बढ़ चढ़कर हो रहा है। छात्रों को इंटरनेट के फायदेः–

- कम्युनिकेशन में सुधार
- ऑनलाइन सर्टिफिकेट ज्यादा स्वीकृत
- ऑनलाइन शिक्षा बनी छात्रों की पसंद

निष्कर्ष एवं सुझाव–

कोरोना काल में इंटरनेट एक ऐसा साधन था जिसके जरिए छात्र लॉकडाउन पीरियड में भी एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने में सहायक थी जिसका विशेष लाभ शिक्षा जगत को भी प्राप्त हुआ छात्रों की शिक्षा दीक्षा में रुकावट ना आते हुए इंटरनेट के माध्यम से ऑनलाइन क्लासेस का प्रावधान शुरू किया गया। जो छात्रों को घर बैठे ही अध्ययन करने के लिए प्रेरित करते थे तथा शिक्षक छात्र का संपर्क बना रहता था। ऑनलाइन प्रोग्राम ने शिक्षा में क्रांति ला दी जिसके जरिए अनेक वेबीनार, वर्कशॉप, कॉन्फ्रेंसेस ऑनलाइन माध्यम से होने लगे जिसके जरिए अपने अपने स्थान से ही लोग इंटरनेट के माध्यम से एक प्लेटफार्म पर जुड़ कर इन ऑनलाइन प्लेटफॉर्म्स को अटेंड करते थे। ऑनलाइन माध्यम से बिना एक जगह पर भीड़ बढ़ाएं अधिक जनसंख्या में किसी भी प्रोग्राम चाहे वह एफडीपी हो ओरियंटेशन हो या वर्कशॉप वेबीनार

कॉन्फ्रेंस अटेंड किया जा सकता है। विद्यालय तथा महाविद्यालय में छात्रों को स्मार्ट क्लास के माध्यम से एक नया अवसर प्रदान किया है जो उनके उज्जवल भविष्य के लिए एक अच्छा संसाधन साबित हो रहा है। छात् बहुत ही कम लागत में इंटरनेट के माध्यम से कोचिंग के सपने को साफ साकार कर पा रहे हैं क्योंकि बहुत सी कोचिंग संस्थाएं फ्री ऑनलाइन कर क्लासेस छात्रों को प्रोवाइड करा रही हैं। आजकल ई'लाइब्रेरी बहुत विकसित हो रही है जहां छात्र पहले पुस्तकों को पढ़ने के लिए पुस्तकालय मैं जाता था वहीं आज ई लाइब्रेरी के माध्यम से इंटरनेट के जरिए घर बैठे अपने ज्ञान को संचित कर पाते हैं तथा अनेक नई पुस्तकों का संग्रह देख पाते हैं।

अतः जहाँ इन्टरनेट का विद्यार्थियों के ऊपर सकारात्मक प्रभाव देखा जा सकता है वहीं इसका नकारात्मक प्रभाव भी विद्यार्थियों पर पड़ रहा है। इंटरनेट उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए हानिप्रद है। यह कहे जाने पर अभिभावक असंतोष प्रकट करते है और कहते है कि समय बदल गया है। जमाने के साथ चलना चाहिए, हमारा बेटा पिछड़ जाएगा। उनका यह सोचना प्रत्यक्ष रूप में तो सही लगता है लेकिन आगे चलकर बुरा प्रभाव भी दिखाई देता है। इंटरनेट माध्यमों का का प्रभाव हमारे शारीरिक, मानसिक के साथ–साथ पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण पर पड़ रह है। **जहांयान (2013)** के परिणामों से पता चला कि इंटरनेट की लत और छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य के बीच एक महत्वपूर्ण और नकारात्मक संबंध है। **शिंदे (2014)** ने अध्ययन में यह पाया कि पेशेवर छात्रों के बीच इंटरनेट की लत का स्तर मध्यम था और कम से कम होता है। 84 प्रतिशत छात्र औसत शारीरिक समस्याओं से जूझ रहे थे जबकि 83 प्रतिशत छात्र चिंता से जूझ रहे थे जहां उनमें से 94 प्रतिशत औसत सामाजिक प्रदर्शन से प्रभावित थे। उनमें से अधिकांश 73 प्रतिशत को औसत अवसाद दिखाया गया। अत्यधिक इंटरनेट उपयोग, काम की उपेक्षा, सामाजिक जीवन की उपेक्षा और छात्रों के बीच मानसिक स्वास्थ्य के एक हिस्से के रूप में शारीरिक समस्याओं के बीच पर सहसंबंध महत्वपूर्ण था। **गुप्ता अमन (2018)** ने अध्ययन में पाया कि उत्तर भारत के एक विश्वश्वविद्यालय के स्नातक कॉलेजों के छात्रों में इंटरनेट की लत और इसका मानसिक स्वास्थ्य के बीच संबंध रखता है। इंटरनेट की लत, इंटरनेट के उपयोग की अधिक अवधि और हमेशा ऑनलाइन स्थिति वाले अवसाद, चिंता और तनाव में थे। **माधुरी हुड्डा (2018)** ने अध्ययन के निष्कर्ष में पाया कि– इंटरनेट की लत एवं मानसिक स्वास्थ्य के मध्य नकारात्मक सहसंबंध पाया गया।

अनुसंधान यह बताते हैं कि इंटरनेट में दिखाई जाने वाली हिंसा बच्चों में डर, उत्तेजना, आक्रामकता और विद्रोही व्यवहार को बढ़ावा देती है। कम नींद का होना, पढ़ाई में ध्यान न लगना और एकाग्रता की समस्या अक्सर बच्चों में आ जाती है, वे असवंदनेशील हो जाते हैं। बच्चे जब हिंसा से अपना मनोरंजन करते हैं तो वे कठोर, निर्दयी संवेदना शून्य हो जाते हैं और

किसी भी प्रकार के दबाव को सहन नहीं कर सकते और हमारे स्कूलों, समाज और समुदायों को और अधिक हानिकारक बनाते हैं।

अतः विद्यार्थियों को इन्टरनेट का प्रयोग अपने शैक्षिक कार्यों के साथ–साथ अपने ज्ञान के लिए करना चाहिए साथ ही यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि इन्टरनेट का प्रयोग उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास पर न पड़े।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

- विश्व स्वास्थ्य संगठन (2004). मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देना : अवधारणायें, उभरते सबूत, अभ्यास : विक्टोरियन स्वास्थ्य संवर्धन फाउण्डेशन और मेलबर्न विश्वविद्यालय के सहयोग से विश्व स्वास्थ्य संगठन, मानसिक स्वास्थ्य और मादक द्रव्यों के सेवन विभाग की एक रिपोर्ट. डब्ल्यू एच ओ, जिनेवा।
- कुप्पूस्वामी, बी. (1976). बाल व्यवहार और विकास, नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि.
- सिंह, अरुण कुमार (2011). शिक्षा मनोविज्ञान, नई दिल्ली, भारती भवन पब्लिकेशन
- हैडफिल्ड, जे0ए0 (1952). साइटेड इन *शिक्षा मनोविज्ञान,* एस0के0 मंगल। पी0एच0आई0 लर्निंग प्रा0लिमिटेड, दिल्ली, 2008।
- सिंह एवं सिंह (2017). जन–संचार का युवाओं पर प्रभाव पर अध्ययन, इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च, वॉ0 3(10), पृ0 169–171
- श्रीवास्तव, मुकुल एवं कुमार, सुरेन्द्र (2017) ने सोशल मीडिया और विकास, मीडिया मीमांसा, जनवरी–मार्च 2017, पृ0 37–42
- कौर एवं हुसैन (2018). सामाजिक मीडिया का प्रचलन एवं युवाओं पर इन का प्रभाव, इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ ह्युमिनिट्ज एण्ड सोशल साइंस, रिसर्च, वॉ0 4, इश्शू–2, पृ0 30–34
- कुमार, यतेन्द्र (2015). भारत का बदलता परिवेश : बदलती युवा जीवनशैली, *रिव्यू ऑफ रिसर्च,* वॉ0 4, इश्शू–7, पृ0 1–5
- कठेरिया एवं अन्य (2013). टेलीविजन कार्यक्रमों का बच्चों पर प्रभाव (वर्धा शहर के विशेष संदर्भ में), *इण्डियन स्ट्रीम्स रिसर्च जर्नल,* वॉल्यूम–3, इश्शू–7, पृ0 1–4
- कानफोर्ड, जेम्स एण्ड पोलोक नील, पुटिंग द यूनिवर्सिटी ऑनलाइन 2003, दि सोसायटी फॉर रिसर्च इन टू हायर एजुकेशन एण्ड ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, यू0के0।
- जोशी, पूनम (2015). सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन में मीडिया की भूमिका सार, एआईजेआरए, वॉ0 1, इश्शू–3, पृ0 10.1–10.5, www.ijcms2015.co
- शर्मा, शुभ्रा (2017). इन्टरनेट का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव (रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, मनोरंजन, जीवन पद्धति आदि), काव्य इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ इकोनॉमिक्स, कॉर्मस एण्ड बिजनेस मैनेजमेण्ट, वॉ0 4, इश्शू–4, पृ0 664–667, www.kaavpublications.org
- कौर, धर्म एवं हुसैन, शहादत (2018). सामाजिक मीडिया का प्रचलन एवं युवाओं पर इनका प्रभाव, वॉ0 4, इश्शू–2, पृ0 30–34 http://echetana.com/wp-content/uploads/2018/04/17-Santosh-Naruka.pdf

Feminine Awareness in the select novels of Shobha De

Dr. Madhav Prasad Tripathi

(Assitt. Prof.
Kripalu Mahila Mahavidyalay,
Kunda, Pratapgarh, U.P.)

Abstract: As a novelist, Shobha De is an eager observer of modern society. She has depicted her characters in the manner that reflect people in the present day society. She has successfully sketched the images of new women who inhabit in the aristocratic world of Indian high society. These are not of the weak and submissive women fearing their domination by their husbands. Her women are dynamic, strong and high confident. They do not live at the mercy of family and society. They lead new ways to coming generation of our women. De has taken great interest in dealing with great issues to bring about their understanding and awareness in our male dominated society. She has done a commendable service to women by her writings.

Introduction:

Indian woman over the ages has been an image of tolerance, sacrifice and purity. She has always occupied a place secondary to man. Man rules over her as her master despite the fact that have been so many reforms in the modern world through education and learning. The importance of focusing women's issues clearly seen in the works of Indian women novelists who have created different types of images. Shobha De has great sympathy towards Indian women. She has very closely observed women's psyche and their problems. De belongs to the modern feminist school of thought. She raises the women characters in her novels to be at per with male characters. They have an equal amount of freedom in all walks of life. As De says:-

"I did write with a great deal of empathy towards women. Without waving the feminist flag, I feel very strongly about the women's situation."1

De shapes such in all her novels including Socialite Evenings (1989), Starry Nights (1990), Sisters (1992), Strange Obsessions (1992), Sultry Days (1994), Snapshots And Second Thoughts (1996), created such female characters who defy- traditions and society and comes to have a new identity. De is such author who presents the voices and scenes of female characters. By the means of her novels, Shobha De has attempted to ruin patriarchal hegemony. She has ruined the illusions presented by society and bestowed voice to the dreams of women in all her novels.

Feminine Sensibility:

Viewing through the historical records, we see that women have been denied their dreams since time unremembered. The women who had courage to dream were deprived and disillusioned by patriarchal society. The feminist movement proclaimed the belief that men and women are same so there should be same rights, powers and opportunities as men have learned and educated, women began to raise their voices. Sarah Grimke discovers perpetual sin that the men commit against women: "Man has subjugated woman to his will, used her to promote his selfish qualification, to minister her sexual pleasure, to be instrumental in promoting his comfort; but never has he desire to elevate her to that rank she was created to fill. He has done all he could do debase her and enslave her and enslave her mind." (Sarah Grimke, letters on the Equality of the Success and the conditions of women, 1970)

Shobha De strikes the latest trend in her feminist stance that is, to reject outright the male hegemony. In De's novels the female characters take all decisions and appears to be masters of their own lives. The female characters are not soft and weak creature who are frequently under the power of men and the society. They are independent, confident and assertive.

Her female characters are not plaything but a tough competitor and equal partners in any enterprise they live on the fast track. They are no longer husband worshippers, nor the marriage pious relationship.

In Socialites Evenings, the women characters are non conformist. Anjali and Karma are such women who have left their conventional Indian middle class homes in the quest of freedom. Karma defies the conservative set up of society. Karma in Socialite Evenings, defines to ….. the traditional manner and culture. She protests about the meaningless marital relationship in her husband: --- our marriage was over the day our awful honeymoon started. We have got nothing going------ I really don't know why you choose to marry me. (Shobha, Socialite Evenings,293)

De has drawn the real image of new women who challenge age- old practice of subjugations of women in nearly all spheres of life. Her women are such characters who protest and strong enough to say a big "No" to every unfair meted out to them. They are a set of well equipped women- filthy rich, well educated, talented and ambitious. Her women are powerful. They don't hesitate to challenge socially sectioned male headship on the basic issues of life.

In her novels, De is all out to improve traditional image of the Indian women as feeble, subservient person living at the pity of her partner. She creates her female characters as aggressive blusters of the male ego and male hierarchy. As De observes:"The women in my books are definitely not doormats. They are not willing to kick around."(Ajay Singh, The Trouble with Men)

De has created strong determined and have no hassles in behaving in any manner they like. There is vivid image of modern women in De's novel Second Thoughts. Maya who goes to Bombay after her arranged marriage to foreign return boy Ranjan. She has keen desire to adopt life style of Mumbai but her husband proved to be a cold Indian male.

Disappointed with her husband, Maya feels trapped in unfeeling marriage. In her dejection, she enters into an odd relationship with her college going neighbor Nikhil. She indulges into extra marital relationship fearlessly. Ranjan praises his female colleagues who are more fashionable women. De has created such female characters who are praised by Ranjan. He says about women at party. “These are very respectable people, highly qualified. My colleagues you understand.”(Shobha De, Second Thoughts, 338)

Bombay is extremely fashionable city that is why De’s women are tempted and fascinated to the city. For her women, Bombay is such city where all their dreams and ambitions are completely fulfilled. Amrita in Strange Obsessions, reaches Bombay from Delhi to become a super model. It was her sharp dream and ambition. “It had to be Bombay. She wanted big time. And she wanted it bad.” (Shobha De, Strange Obsessions, 05)

Thus, in Starry Nights, Aasha Rani makes a journey from Madras to Bombay in order to become great film star and obtain great amount of wealth and fame: “Everybody in the great out there wanted to join the movies. Become film-stars. Those who made it were somehow privileged .” (Shobha De , Starry Nights, 230)

De has centralized the condition of women prominently in urban India. Dreams of marriage in De’s women are only deception. Karuna gives voice to the dream of marriage that almost all women have in present day society. “I still dreamed, as I know some of my friends did, of the perfect marriage….. a marriage full of laughter and conversation. One in which the two of us were perfectly in tune. Speaking the same language, thinking the same thoughts, enjoying the same things.” (Shobha De, Socialite Evenings,68)

In Snapshots, Aparna has divorced her husband and denied to marry twice. Her women characters divorce their partners and seek extra marital relationships with chain of lovers and lead independent lives. Rashmi becomes mother before her marriage. These female characters in Snapshots have

different marital status. According to the modern Indian women, marriage is meant to enjoy fully if their married life is deprived of sexual gratification. They gratify through extra marital relationship. Reema gives voice this idea. Most of women are like me married early to men they did not know. Did not like. They are bored with their husbands… there are times when one of the women is attracted to… someone else…we advice her sensibly. Our motto is: say no to divorce. Never break up the home. Have your fun quietly somewhere. But don't leave the family." (Shobha De, Snapshots, 214)

De has presented her women bold, unyielding, revolting against the traditional set up. Liberated and making their own judgment in their efforts to settle their own recognition in the contemporary society. Her women pave the path for all Indian women in the present day society.

Select Bibliography:

1. Dhawan, R.K. and Dodiya Jaydipsinh, "The Fiction of Shobha De: An Introduction", The fiction of Shobha De, ed. Jaydipsinh Dodiya, p.14.
2. Grimke, Sarah, " Letters on the Equality of the Sexes and Condition of Women", New York, 1970.
3. De Shobha, Socialite Evenings, Penguin Books India Pvt. Ltd. New Delhi, 1989.
4. Singh, Ajay, Trouble with Men, Asiaweek. n.d.
5.De, Shobha, Second Thoughts Penguin Books India Pvt. Ltd. New Delhi, 1996.
6. De, Shobha, Strange Obsessions, Penguin Books India Pvt. Ltd. New Delhi, 1992.
7. De, Shobha, Starry Nights, Penguin Books India Pvt. Ltd., New Delhi, 1990.
8. De, Shobha, Snapshots, Penguin Books India Pvt. Ltd., New Delhi, 1995

Critique of Civilizations from Sri Aurobindo's Perspective

Dr. Awanish Chand Pandey

Associate Professor
Dept. Of Philosophy
S.C. College, Ballia
JNCU, Ballia

Abstract

This paper explores the concept of civilization as framed in Western thought and contrasted with Sri Aurobindo's philosophy. Thinkers such as Toynbee, Hobbes, Aristotle, Collingwood, Guizot, Starobinski, Elias, and Ricoeur provide varying definitions of civilization, often linking it with political authority, material progress, refinement of manners, and intellectual advancement. Yet these perspectives frequently justify imperialism and the suppression of other cultures through the notion of the "civilizing mission." In contrast, Sri Aurobindo presents a spiritual critique: he distinguishes civilization from barbarism not merely by material or institutional markers but by the evolution of human consciousness. He warns that modernity's fixation on economic and technological progress risks creating a "civilized barbarism." Civilization, he argues, must transcend materialism and evolve toward spiritual unity, harmony, and mutuality. This paper situates Aurobindo's critique within the broader discourse on civilization, evaluates its relevance in contemporary global crises, and proposes that authentic civilization requires integration of material, mental, and spiritual dimensions.

Introduction

The concept of civilization has long occupied a central place in human selfunderstanding. Since the Enlightenment, "civilization" has been invoked both as a descriptive category, marking the stages of cultural and social

development, and as an evaluative standard against which societies have been measured, judged, and often subordinated. For some thinkers, civilization is synonymous with material progress, political order, and intellectual refinement. For others, it represents a higher moral or spiritual achievement. Across history, the term has functioned not only as a framework for academic inquiry but also as a political tool for empire-building, cultural domination, and the justification of colonial expansion. As a result, any analysis of civilization must reckon with both its intellectual depth and its historical misuse.

In Western traditions, civilization has often been equated with organized political life and the development of reason. Aristotle viewed the polis as the arena in which humans could achieve the "good life," while Hobbes argued that strong political authority was the foundation of peace, leisure, and philosophy. Toynbee later emphasized the spiritual element, suggesting that civilizations are historical embodiments of a higher, enduring Civilization with a capital "C." Collingwood, Guizot, and others stressed law, economic exchange, social organization, and progress as defining features. Yet alongside these philosophical formulations, European colonialism transformed the idea of civilization into a hierarchical system of judgment, where non-European societies were labeled "barbaric" or "savage," often to rationalize conquest and subjugation. Thus, civilization became not only a marker of human achievement but also a weapon of exclusion and domination.

Sri Aurobindo offers a radically different perspective. Writing in the early twentieth century, he engaged with both Western philosophy and Indian spiritual traditions to propose a more holistic understanding of civilization. For him, civilization is not confined to external institutions, economic efficiency, or even intellectual achievements. Instead, it must be understood as a dynamic process of human evolution that integrates material, vital, mental, and spiritual dimensions. He sharply criticizes the modern West for reducing civilization to economic growth and technological advancement, warning that such a conception risks producing a "civilized barbarism." In this state, societies may

be materially advanced but spiritually impoverished, dominated by greed, competition, and violence rather than harmony, unity, and higher truth.

Aurobindo's critique is particularly relevant today, when globalization has created both unprecedented interconnection and new forms of division. The rise of economic imperialism, environmental crises, fundamentalist violence, and cultural homogenization demonstrates the dangers of reducing civilization to material and utilitarian terms. At the same time, the persistence of cultural pluralism shows that no single model of civilization can claim universal supremacy. Aurobindo's vision, which recognizes the unique contributions of each civilization while insisting on the need for spiritual growth, offers a way to reimagine human progress in the twenty-first century.

This paper situates Aurobindo's critique within the broader history of ideas about civilization. It examines the major Western formulations, the colonial uses of the civilizing mission, and the way Aurobindo redefines the relationship between civilization and barbarism. By contrasting materialist and spiritual approaches, the paper argues that authentic civilization requires not merely external progress but the conscious evolution of humanity toward unity, mutuality, and harmony.

Western Conceptions of Civilization

The idea of civilization in Western thought has been central to philosophy, history, and political theory for centuries. From classical antiquity to the modern period, European thinkers defined civilization as the mark of social order, progress, and refinement, often by contrasting it with barbarism or savagery. While these conceptions illuminated aspects of human development, they also carried hierarchical assumptions, legitimizing imperialism and cultural domination. This section outlines the major contributions of key Western thinkers—Aristotle, Hobbes, Toynbee, Collingwood, Guizot, Starobinski, Elias, and Ricoeur—highlighting both their insights and their limitations.

Aristotle: Civilization and the Polis

For **Aristotle**, civilization was closely linked to political life. In his *Politics*, he argued that humans are "political animals" who achieve fulfillment only within the polis. The state was created "that we might live, but continued that we may live happily" (Aristotle, trans. 1998). Civilization, therefore, was not mere survival but the pursuit of the good life—*eudaimonia*—through institutions, laws, and ethical cultivation. Those who lived outside society, without law or political community, were "either beasts or gods." Aristotle thus set a lasting precedent: civilization is inseparable from social and political organization.

Hobbes: Order Through Authority

In early modern thought, **Thomas Hobbes** reframed the distinction between civilization and barbarism in terms of authority. In *Leviathan* (1651/1994), Hobbes depicted the state of nature as violent and chaotic, where life was "solitary, poor, nasty, brutish, and short." Civilization emerged when individuals surrendered freedom to a sovereign, creating peace and stability. Robert Kraynak (1990) notes that Hobbes identified three hallmarks of civilization: strong political authority, leisure, and the flourishing of philosophy and culture. For Hobbes, civilization depended on coercive power, a striking contrast to Aristotle's more ethical conception.

Toynbee: Civilizations in the Plural

The historian **Arnold Toynbee** expanded the scope by analyzing multiple civilizations. In *A Study of History* (1934–1961), he described over 20 civilizations, rising and falling in response to challenges. Importantly, Toynbee distinguished between "civilizations in the plural" and "Civilization in the singular." The former referred to particular historical societies, while the latter denoted an abstract spiritual ideal: a condition where a minority is free from material necessity to pursue higher goals. While acknowledging diversity, Toynbee still implied hierarchy, suggesting some civilizations achieve greater spiritual progress than others.

Collingwood: Economic, Social, and Legal Civilization

R. G. Collingwood (1940) offered a tripartite definition in *What Civilization Means*:

1. **Economic civilization** – the just pursuit of wealth through fair exchange and scientific production.
2. **Social civilization** – communal life based on persuasion, not coercion.
3. **Legal civilization** – governance under civil law, ensuring that no authority overrides justice.

For Collingwood, civilization was a **process of approximation to an ideal**, not a static condition. He emphasized that progress meant eliminating arbitrary power, reflecting the modern democratic ethos.

Guizot: Progress of Society and Humanity

French historian **François Guizot** in *History of Civilization in Europe* (1828/1997) argued that civilization meant **progress**, both collective and individual. Socially, it involved institutions, law, and political development. Individually, it meant the cultivation of faculties, sentiments, and ideas. Civilization, he claimed, was recognized wherever "letters, sciences, and the arts display their splendour." Guizot thus linked civilization to dual growth: the advancement of society and the development of human personality.

Starobinski and Elias: The Self-Consciousness of the West

By the twentieth century, critical thinkers examined the ideological weight of the term. **Jean Starobinski** (1993) noted that "civilization," associated with progress and perfectibility, acquired a sacred aura that legitimized political projects. Competing groups invoked it to claim superiority and mobilize followers.

Similarly, **Norbert Elias** (1978) in *The Civilizing Process* argued that "civilization" expressed Western society's pride in its refinement, technology, and manners. The concept served as a tool of self-congratulation, contrasting Europe with "primitive" others. Civilization was not merely descriptive; it was a way of asserting power.

Ricoeur: The Call for Authentic Dialogue

Paul Ricoeur (1965/2007) warned that true dialogue between civilizations had scarcely begun. Western encounters with non-Western societies had largely been through conquest and domination, not mutual exchange. For Ricoeur, the task of the future was authentic dialogue, in which civilizations confronted each other with their most creative insights, rather than imposing superiority.

In short, Western perspectives on civilization oscillate between descriptive and prescriptive. From Aristotle's polis to Hobbes's sovereign, from Toynbee's spiritual Civilization to Guizot's progress narrative, civilization has been linked with order, refinement, and progress. Yet, thinkers like Starobinski, Elias, and Ricoeur remind us that the very word "civilization" has often functioned as a weapon of hierarchy and exclusion, justifying conquest in the name of advancement.

This trajectory sets the stage for Sri Aurobindo's intervention. Where Western thinkers emphasize order, progress, and rationality, Aurobindo critiques these as insufficient without spiritual growth. His philosophy reorients the discussion: civilization is not simply material advancement or social organization but the **evolution of consciousness**.

Colonialism, Imperialism, and the "Civilizing Mission"

The theoretical frameworks developed by Western philosophers and historians did not remain abstract ideas; they became powerful justifications for political and colonial action. The concept of civilization—particularly its opposition to barbarism—was one of the most influential ideological tools of imperialism. Under the banner of the "civilizing mission," European powers rationalized their domination of Asia, Africa, and the Americas. They claimed responsibility for uplifting "less developed" peoples by offering law, science, Christianity, and progress, while in reality pursuing exploitation, cultural erasure, and violence.

This section examines how Western civilizational thought intertwined with imperial practice. Drawing upon thinkers such as Montesquieu, Wolff,

James Mill, and Wheaton, it shows how the language of civilization was embedded in international law, how colonial narratives distorted non-European societies, and how imperialism was reframed as humanitarian duty.

The Origins of the Civilizing Mission

The civilizing mission drew on Enlightenment ideas of human perfectibility.

Montesquieu distinguished between savage and barbarian nations, presenting them as earlier stages of development. Savages were scattered clans without political unity; barbarians were pastoral groups with basic political organization (Montesquieu, 1748/1989). Civilized societies, by contrast, were urban, commercial, and politically complex. This evolutionary framework placed Europe ahead of others on a linear path of progress.

By the eighteenth and nineteenth centuries, this model was used to portray colonized peoples as inherently backward. Christian Wolff (1749/1934) argued that barbarous nations lacked intellectual cultivation and followed instinct, while civilized nations pursued reason, science, and refined manners. Such arguments framed intervention as natural, casting European conquest as assistance in the "maturation" of other societies.

This paternalistic rhetoric was epitomized in Kipling's phrase, the "white man's burden" (1899). Europe's supposed moral responsibility to civilize others was framed as thankless but necessary. In practice, it justified exploitation, cultural domination, and structural violence.

James Mill and the Misrepresentation of India

James Mill's *History of British India* (1817) illustrates how civilizational misrepresentation functioned. Without ever visiting India, Mill described Indian civilization as stagnant, irrational, and morally corrupt. He argued that Indians lacked historical consciousness, scientific reasoning, and ethical integrity. Indian customs, he wrote, reflected "rudeness of society," and thus required British correction (Mill, 1817/1990).

Mill's account profoundly shaped British policy. Colonial administrators adopted his framework when reforming education, law, and governance in India.

By presenting Indian civilization as "eternally backward," Mill legitimized conquest and the imposition of European cultural norms. In doing so, he dismissed India's rich philosophical traditions, scientific advancements, and historical consciousness.

This rhetorical strategy—depicting colonized peoples as passive, stagnant, or childlike—extended far beyond India. Similar narratives justified conquest in Africa, the Americas, and the Pacific Islands. In each case, imperial rule was framed as a rescue operation, masking its exploitative reality.

Civilization and International Law

Civilizational discourse was not limited to rhetoric; it became institutionalized in international law. Henry Wheaton (1836/1945), one of the founders of American international law, argued that "public law" applied only to "civilized and Christian nations." For him, only Europe and its descendants belonged to international society, while non-European states were excluded unless they adopted European institutions.

Similarly, William Hall (1880) declared international law "a product of the special civilization of modern Europe," unsuitable for societies outside that tradition. The "standard of civilization" doctrine (Gong, 1984) codified this exclusion, establishing criteria such as functioning legal systems, property rights, and diplomatic norms as prerequisites for sovereignty. States that failed to meet these standards were deemed "uncivilized," legitimizing European intervention and colonization.

Civilization and the Dehumanization of Others

Civilizational language also dehumanized non-Europeans. Wheaton distinguished between the "savage tribes" of North America and the "barbarians of Africa," both denied legal recognition. Ward (1787) described Muslims and Turks as "ignorant and barbarous," claiming their progress resulted only from European influence. Even the Chinese, admired for their ancient culture, were dismissed as stagnant and barbaric in warfare and diplomacy.

These portrayals created a hierarchy with Europe at the apex, embodying rationality and progress, while others were relegated to "earlier stages." Such hierarchies rationalized wars, colonization, and cultural domination as natural extensions of civilizational superiority.

Imperialism as Humanitarianism

By the nineteenth century, imperialism was increasingly framed as humanitarian duty. Colonization was portrayed as a mission to spread Christianity, law, education, and health. What was in reality, conquest and exploitation was rebranded as benevolence.

This narrative persisted into the twentieth and twenty-first centuries. Military interventions were justified as "humanitarian missions," aimed at liberating oppressed peoples or rescuing "failed states." Political theorist Michael Ignatieff (2003) noted that modern empires present themselves as liberators rather than conquerors. Yet critics argue that such interventions reproduce the exploitative patterns of older imperialism, substituting one form of domination for another.

The Barbarization of the Civilizers

A paradox of the civilizing mission was that powers claiming to uplift others frequently acted with brutality themselves. Colonial wars involved massacres, forced labor, and cultural destruction. These acts, defended as necessary for progress, exposed the contradiction at the heart of imperial discourse.

Critics such as Edmund Burke condemned the East India Company's abuses as violations of justice and civilization. Orwell's (1936) essay *Shooting an Elephant* revealed how colonialism dehumanized both rulers and subjects. H. G. Wells also criticized imperial violence as incompatible with civilization. For these writers, imperialism was not civilization but "superior barbarism," imposing one cultural model by coercion.

Legacies of the Civilizing Mission

The civilizing mission left deep and lasting legacies. Many postcolonial states continue to struggle with the political, economic, and cultural consequences of imperialism. Artificial borders created conflicts, economies structured for extraction entrenched inequalities, and cultural hierarchies shaped education and governance.

Even today, echoes of civilizational rhetoric remain in terms such as "failed states," "rogue nations," and "humanitarian intervention." Though explicit talk of "civilizing missions" has declined, its logic persists in global politics, sustaining hierarchies that privilege Western models of development while marginalizing others.

Sri Aurobindo's Critique of Civilization

The Western discourse on civilization, as explored through thinkers from Aristotle to Toynbee and carried into the era of imperialism, often situates civilization in terms of political organization, material progress, intellectual refinement, and international law. While these dimensions are not without merit, Sri Aurobindo's writings offer a fundamentally different lens for evaluating civilization. Rather than focusing exclusively on external structures, Aurobindo emphasizes the **evolution of human consciousness** as the defining criterion of true civilization. In doing so, he provides a profound critique of both ancient and modern civilizations, exposing their limitations and redirecting attention toward the spiritual dimension of human life.

Civilization and Barbarism: A Relative Distinction

Sri Aurobindo begins by questioning the conventional distinctions between civilization and barbarism. In popular Western usage, civilization is equated with being "governed, policed, organized, educated, and equipped with knowledge and appliances," whereas barbarism is associated with the absence of these features (Aurobindo, 1918/1997). Yet, Aurobindo argues that this view is superficial and relative. Every society—whether the Red Indians, the Basutos, or the Fijians—possessed some form of organized life, religion, ethical values, and virtues. To label them as "barbarians" merely because their material

instruments were crude or their social organization simple reflects an ethnocentric bias rather than an absolute truth.

In his view, civilization cannot be reduced to the possession of technology or political sophistication. Nor can it be determined by which society holds temporary dominance. Civilizations that once stigmatized others as "barbarous" were themselves subject to similar judgments in different historical contexts. Thus, Aurobindo calls for a deeper definition of civilization—one that transcends temporary power, material advantage, or relative refinement.

For Aurobindo, the distinction lies in the **focus of human preoccupation**. Barbarism is the state in which human beings are almost entirely absorbed in material survival— food, shelter, and physical power. Civilization, in contrast, begins when there is a conscious pursuit of the mental life: intellectual, artistic, ethical, and eventually spiritual development. This definition allows for the recognition that all societies contain both barbaric and civilized elements in varying proportions. Even advanced civilizations, he observes, often carry within themselves vast residues of barbarism. Conversely, so-called "primitive" societies may exhibit moral or spiritual qualities superior to those of materially advanced nations.

The Modern "Civilized Barbarian"

One of Aurobindo's sharpest critiques is directed at what he calls the **"civilized barbarian"**—a figure who outwardly participates in the structures of modern civilization but remains inwardly crude, unrefined, or spiritually undeveloped. Aurobindo identifies two primary types:

1. **The Philistine** – the man who possesses the material benefits of civilization but is impervious to culture, beauty, and higher thought. He mouths the conventions of morality and religion but lacks genuine intellectual or spiritual development. His life is driven by practical needs, social respectability, and crude utilitarianism.
2. **The Sensational Man** – the successor to the Philistine in the modern age, this figure is bombarded by new information, fashions, and ideas. He

consumes culture superficially—reading, debating, or even fighting for ideals—yet without the deeper discipline or clarity that true culture requires. He is mentally reactive rather than genuinely creative, swept up in movements of mass politics, sensational media, and populist ideologies.

Aurobindo warns that these types dominate modern society. They create a veneer of civilization while perpetuating inner barbarism. Fascism, totalitarianism, and even certain forms of mass democracy, he suggests, are expressions of this condition: they mobilize vast populations around crude impulses dressed in ideological clothing, resulting in conflict, violence, and degradation.

Economic Barbarism and the Commercial Age

Beyond the Philistine and the sensational man, Aurobindo identifies a third danger: the rise of **economic barbarism**. In this stage, society mistakes material wealth, industrial production, and economic success for the ultimate goal of life. The pursuit of comfort, accumulation, and technological advancement becomes the dominant ethos.

Aurobindo observes that the commercial age produces a distorted ideal of the "successful man"—a figure celebrated not for wisdom, virtue, or creativity but for accumulation of possessions, industrial achievements, or financial power. Beauty is sidelined as frivolous, religion is formalized into cold pietism, and politics degenerates into the pursuit of markets and trade. Education is valued primarily for its utility in producing efficient workers, while science is harnessed for production and convenience rather than the pursuit of higher knowledge.

He calls this condition **"vitalistic barbarism"**—an age where the instincts of desire, possession, and vital satisfaction dominate, albeit cloaked in the machinery of modern science and organization. To Aurobindo, this represents not progress but a **reversion to primitive barbarism**—except with vastly more powerful tools at humanity's disposal. Whereas ancient barbarians

used brute force, modern barbarians employ industrial machinery, advanced weapons, and scientific systems to pursue the same base instincts.

The Evolutionary Crisis of Humanity

Sri Aurobindo situates these problems within a larger evolutionary framework. He argues that human beings are not merely material or mental creatures but spiritual beings in evolution. Civilization, in its truest sense, is the **progressive unfolding of this deeper spiritual truth**. When society becomes fixated exclusively on material or mental achievements, evolution stalls or regresses.

According to Aurobindo, humanity now faces an **evolutionary crisis**. The extraordinary development of science, technology, and social organization has created a system "too big for man's limited mental and moral capacities to manage" (Aurobindo, 1939/2005). Modern civilization has produced immense power—political, economic, technological—without the corresponding growth of wisdom, compassion, or spiritual awareness. The result is chaos, conflict, and the danger of self-destruction.

This crisis, however, is not merely a danger; it is also an opportunity. Aurobindo insists that the next stage of human evolution must be spiritual. Just as life evolved out of matter, and mind out of life, so too must spirit evolve out of mind. Civilization must therefore move beyond the dominance of ego, reason, and material desire toward a greater unity founded on the inner truth of the Spirit.

Toward a Spiritual Civilization

Aurobindo envisions a civilization based on **unity, mutuality, and harmony**, born of the realization that all beings share a deeper spiritual essence. Such a society would not be organized merely by laws, markets, or power, but by a higher consciousness capable of integrating material, mental, and spiritual dimensions.

This does not mean rejecting science, reason, or material progress. Rather, these must be subordinated to higher ideals of truth, beauty, and goodness. Economic life would provide the basis for well-being but would not

dominate human aspiration. Education would cultivate not only technical skills but also aesthetic sensitivity, ethical awareness, and spiritual discipline. Politics would be guided not by egoistic competition or power struggles but by a collective striving for harmony and justice.

In such a vision, civilization becomes not a fixed state or external achievement but a **dynamic process of inner growth**. Every society and every individual contributes to this process by developing its unique faculties—intellectual, artistic, moral, and spiritual. Diversity is not an obstacle but a necessary condition for the manifestation of the whole.

Civilization as Integral Evolution

Sri Aurobindo's philosophy insists on an **integral view of civilization**. Material, vital, mental, and spiritual dimensions must all be developed and harmonized. Neglecting one dimension leads to imbalance and crisis. For example, modern materialism has produced immense external progress but also internal impoverishment, resulting in wars, exploitation, and ecological destruction. Ancient spiritual traditions, conversely, often neglected material well-being, leading to stagnation or vulnerability.

The challenge, therefore, is to integrate all levels of human existence into a higher synthesis. True civilization, for Aurobindo, is not the dominance of one dimension over others but the harmonious unfolding of the whole being. This requires an inner transformation—the awakening of consciousness beyond ego, desire, and mere rationality.

Civilization, Culture, and the Individual

Aurobindo also emphasizes the role of the **individual** in civilizational development. Civilizations are not abstract entities; they are the collective expression of individual growth. Each person must strive to develop not only their physical and mental faculties but also their spiritual potential. The cultured individual is one who lives not merely by convention or utility but by inner truth, free intelligence, and aesthetic refinement.

At the same time, Aurobindo recognizes that individual growth cannot be separated from collective progress. A society dominated by Philistines or sensational men will hinder the growth of culture and spirituality. Conversely, when individuals awaken to higher ideals, they inspire and transform their societies. Civilization thus advances through a dialectic of personal and collective evolution.

Critique of Western Civilization

When applied to the West, Aurobindo's critique is especially sharp. He acknowledges the extraordinary achievements of Western science, organization, and rational thought, but he argues that these have come at the cost of spiritual depth. The West's obsession with material progress, utilitarian rationality, and economic organization has created what he calls a "chaos of life" (Aurobindo, 1939/2005). While this chaos may eventually be a stage toward greater evolution, it also threatens regression into a new barbarism.

Western imperialism, in particular, exemplifies this danger. In the name of civilization, the West often engaged in conquest, exploitation, and cultural suppression. For Aurobindo, this reveals the hollowness of a civilization that claims superiority but lacks inner balance. A true civilization cannot impose itself through violence; it must manifest through harmony, mutual respect, and spiritual awakening.

The Need for a Global Spiritual Turn

Aurobindo's critique resonates powerfully in the contemporary world. Globalization has created a materially interconnected humanity, but without spiritual unity. The result is a proliferation of conflicts, ecological crises, and existential threats. Nuclear weapons, climate change, and artificial intelligence illustrate how humanity's technical capacities have far outpaced its moral and spiritual maturity.

In this context, Aurobindo's call for a spiritual turn is not merely philosophical but practical. Without such a turn, modern civilization risks collapse under the weight of its own contradictions. With it, however, humanity

can transform crisis into opportunity, evolving toward a civilization that truly embodies its highest possibilities.

Comparative Analysis: Western Perspectives vs. Sri Aurobindo's Philosophy

The study of civilization in Western thought, from Aristotle to modern theorists of international law, has traditionally emphasized political order, rational progress, technological advancement, and economic organization. While these criteria have provided valuable insights into the material and institutional aspects of civilization, they often carry implicit assumptions of hierarchy and superiority, especially when employed to justify colonial expansion. Sri Aurobindo, writing from a profoundly different philosophical standpoint, critiques these assumptions and redirects the focus toward the evolution of human consciousness as the foundation of true civilization. This comparative analysis highlights the key areas where Aurobindo's views diverge from, and respond to, dominant Western paradigms.

Civilization as Political Order vs. Civilization as Consciousness

Aristotle and Hobbes, in different ways, define civilization in terms of **political development** and the establishment of order. Aristotle argues that human beings fulfill their purpose in the polis, where governance makes possible the pursuit of the good life (Aristotle, trans. 1998). Hobbes, in contrast, emphasizes the necessity of a strong sovereign to escape the chaos of barbarism and ensure peace, leisure, and philosophy (Hobbes, 1651/1994). In both accounts, the movement from barbarism to civilization is marked by increasingly complex political structures.

Sri Aurobindo acknowledges the importance of social and political organization but critiques the reduction of civilization to this single dimension. For him, the mere existence of law, government, or political power does not guarantee civilization. Instead, he insists that **civilization must be measured by the development of the inner life**—the intellectual, cultural, aesthetic, ethical, and ultimately spiritual faculties of human beings (Aurobindo, 1918/1997).

Political order without inner growth, he argues, merely produces the **"civilized barbarian"**—a person who obeys laws and partakes in social order yet remains dominated by crude instincts and unrefined desires.

Thus, where Western thinkers often equate civilization with external structures of governance, Aurobindo insists that true civilization is primarily **an evolution of consciousness**.

Civilization as Progress and Utility vs. Civilization as Integral Growth

Guizot and later European thinkers defined civilization as **progress**—the forward march of societies in science, industry, and rational thought (Guizot, 1828/1997). Collingwood (1940) described civilization in terms of economic, social, and legal refinement, while modern sociologists such as Durkheim and Mauss reduced it to a moral milieu encompassing multiple cultures. In all these views, civilization is closely tied to **utility, efficiency, and material development**.

Aurobindo critiques this utilitarian orientation, arguing that material progress, while important, is not sufficient. A society that achieves comfort, industrial growth, and technological mastery but neglects moral and spiritual development is, in his words, **economically advanced yet spiritually retrograde** (Aurobindo, 1939/2005). The modern age, with its fixation on economic accumulation and industrial power, represents for him a regression to "vitalistic barbarism"—a reversion to primitive instincts of desire and possession, only now armed with advanced science and machinery.

Where Guizot sees progress as linear and inevitable, Aurobindo warns that **progress without integration** can lead to collapse. Civilization must develop the physical, vital, mental, and spiritual dimensions in harmony; otherwise, it risks imbalance, chaos, and eventual decline.

Civilization and the "Other": Superiority vs. Plurality

Western discourse on civilization often defines itself by contrasting with the **"barbarian" or "savage."** Montesquieu, Wheaton, and Ward distinguished

between civilized societies (organized, Christian, European) and uncivilized ones (non-European,

"savage," or "barbarous"). Such distinctions were instrumental in justifying imperialism, which presented itself as a **civilizing mission** aimed at uplifting backward peoples. As Elias (1978) notes, the very concept of civilization became a marker of Western superiority, legitimizing conquest.

Sri Aurobindo rejects this hierarchical categorization. He points out that so-called "primitive" societies—whether Red Indians, Basutos, or Fijians—possessed law, religion, and ethical values, often displaying virtues lacking in modern Europe (Aurobindo, 1918/1997). To dismiss them as barbarians is, for him, a distortion rooted in arrogance and ignorance.

For Aurobindo, civilization is not a monopoly of the West nor a unilinear trajectory toward a single model. Rather, it is a **plural process**, with each society expressing aspects of human potential. He calls for an appreciation of this diversity while recognizing that all civilizations must eventually evolve toward higher consciousness. The "superior" civilization that imposes itself on others is, in reality, committing an act of **"superior barbarism."**

The Role of Science: Domination vs. Transformation

In the Western narrative, science and reason are central markers of civilization. From Bacon and Descartes to the Enlightenment, progress has been equated with the mastery of nature and the rational organization of society. Collingwood (1940) even defined "civilized production" as scientific production—industrial labor directed by scientific knowledge.

Aurobindo acknowledges the immense achievements of science but critiques its misuse. Modern civilization, he argues, has allowed science to serve only the **vitalistic ego**—multiplying wants, fueling industrial exploitation, and producing weapons of mass destruction (Aurobindo, 1939/2005). Instead of liberating humanity, science has become a dangerous servant of collective greed and aggression.

Yet, Aurobindo does not reject science outright. He insists that science must be integrated into a larger spiritual framework, where its discoveries are used to **support the evolution of consciousness** rather than merely to expand material power. In this sense, science should be a tool for transformation, not domination.

Civilization as Law vs. Civilization as Spiritual Harmony

Western international law, as codified by thinkers like Wheaton and Hall, restricted "civilized" status to European and Christian states. Others—Turks, Africans, Asians— were denied full sovereignty. Civilization here was equated with participation in a **legal order rooted in European norms**.

Aurobindo critiques this reduction of civilization to law and legality. Law, he acknowledges, is important for social order, but it is not the essence of civilization. A society governed by law can still be dominated by ego, conflict, and materialism. True civilization, he argues, is marked not merely by legal order but by **unity, mutuality, and harmony born of spiritual truth** (Aurobindo, 1939/2005).

Whereas Western thought often uses law to exclude, Aurobindo's vision of civilization seeks to **include**—to recognize the shared spiritual essence of all humanity and build institutions that reflect this deeper unity.

Crisis and Opportunity

Both Western and Aurobindo's perspectives recognize that civilization faces crises. For Toynbee, civilizations rise and fall depending on their ability to respond to challenges. For modern thinkers, the threat comes from "rogue states," terrorism, or instability in the global order.

Aurobindo reframes the crisis as an **evolutionary turning point**. Humanity has developed immense external capacities but lacks the inner development to manage them. This imbalance has created a global crisis—wars, ecological disasters, and cultural disintegration. Yet, this is also an opportunity: the crisis compels humanity to move toward its next evolutionary stage, which must be spiritual.

Toward a Synthesis

In comparing these perspectives, it becomes clear that Aurobindo does not simply dismiss Western achievements. He acknowledges the importance of reason, science, law, and social organization. However, he critiques their **absolutization**—the tendency to treat them as ends in themselves rather than as instruments of a higher purpose. For him, the true measure of civilization is not technological power or legal sovereignty but the degree to which societies cultivate truth, beauty, goodness, and spiritual unity.

Thus, Aurobindo proposes a synthesis: a civilization that integrates material progress, rational order, and scientific achievement with spiritual consciousness. Only such an **integral civilization** can avoid the pitfalls of barbarism—whether ancient or modern— and realize humanity's full potential.

Conclusion

The exploration of Western conceptions of civilization alongside Sri Aurobindo's critique reveals two fundamentally different trajectories in understanding what it means to be "civilized." Western thinkers such as Aristotle, Hobbes, Toynbee, Collingwood, and Guizot emphasized political authority, rationality, scientific progress, and the refinement of manners as the hallmarks of civilization. These criteria gave structure to societies but also legitimized the exclusion of others, often reducing non-Western cultures to "barbarism" and justifying colonial expansion. The Western civilizing mission, though framed as uplifting, frequently became a vehicle for domination and suppression.

Sri Aurobindo reframes the discourse by situating civilization in the **evolution of human consciousness**. For him, barbarism is not merely the absence of social institutions or material wealth but the condition in which human beings remain preoccupied with physical survival and vital desires. Civilization, by contrast, emerges when the mental faculties are awakened and life becomes guided by truth, beauty, and goodness. Yet he also critiques the modern West for falling into what he calls **"civilized barbarism,"** where

material abundance and technological advancement mask a deeper spiritual emptiness.

His warning is clear: without a higher moral or spiritual orientation, civilization risks collapse under its own weight. Science and reason, while powerful, cannot on their own sustain progress. They must be integrated with ethical ideals and spiritual insight. Otherwise, humanity may regress into new forms of barbarism—industrial, economic, or political—despite outward sophistication. This critique remains strikingly relevant today. Environmental crises, technological misuse, global inequality, and renewed imperial ambitions all reflect the dangers Aurobindo foresaw in a civilization dominated by ego, consumption, and power.

At the same time, his vision is not one of despair. Aurobindo interprets the present turmoil as an **evolutionary crisis**—a transitional stage in which humanity is being pressed toward a greater synthesis. The future of civilization, he suggests, lies not in the dominance of one culture over another but in a genuine **unity of spirit**. This unity does not erase diversity; rather, it harmonizes differences within a wider spiritual framework. A true civilization would be one in which material progress supports intellectual, ethical, and spiritual growth, leading to a life of harmony, mutuality, and shared human purpose.

In this light, Sri Aurobindo's thought offers a way beyond the limitations of both Western universalism and cultural relativism. It affirms that civilizations are many and diverse, yet their deeper aim is common: the progressive manifestation of the spirit in life. Only by embracing this integral vision can humanity move beyond its current crises toward a civilization that is not merely "advanced" but truly **evolved**.

References:-

- Aristotle. (1998). *Politics* (C. D. C. Reeve, Trans.). Hackett Publishing. (Original work published ca. 350 BCE)
- Aurobindo, S. (1997). *The human cycle: The ideal of human unity, war and selfdetermination.* Sri Aurobindo Ashram. (Original work published 1918)
- Aurobindo, S. (2005). *The life divine.* Lotus Press. (Original work published 1939)

- Collingwood, R. G. (1940). *What "civilization" means.* In *The new Leviathan* (pp. 501– 511). Clarendon Press.
- Durkheim, É., & Mauss, M. (1971). *Primitive classification* (R. Needham, Trans.). University of Chicago Press. (Original work published 1903)
- Elias, N. (1978). *The civilizing process.* Blackwell.
- Guizot, F. (1997). *The history of civilization in Europe* (W. Hazlitt, Trans.). Penguin Classics. (Original work published 1828)
- Hobbes, T. (1994). *Leviathan* (E. Curley, Ed.). Hackett Publishing. (Original work published 1651)
- Kraynak, R. P. (1990). *History and modernity in the thought of Thomas Hobbes.* Cornell University Press.
- Ricoeur, P. (1965). *History and truth.* Northwestern University Press.
- Starobinski, J. (1993). *Blessings in disguise; or, The morality of evil.* Harvard University Press.
- Toynbee, A. J. (1934–1961). *A study of history* (Vols. 1–12). Oxford University Press.
- Wheaton, H. (1836). *Elements of international law.* Carey, Lea & Blanchard.

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक – साक्षी
लेखक – डॉ प्रेम शंकर द्विवेदी भास्कर
प्रकाशक – काव्या पब्लिकेशन नई दिल्ली
संस्करण –2024
मूल्य – 399

प्रस्तुत पुस्तक काव्य महारथी, साहित्य सृजक (बिहार) नवांकुर भूषण बहराइच, साहित्य सरस्वती सम्मान जयपुर, साहित्य रत्न बिहार, पूर्वांचल गौरव सम्मान, जापान टोक्यो से कथा की उपाधि, मछलीशहर गौरव सम्मान आदि से सम्मानित सेवा निवृत प्राध्यापक डॉ0 प्रेम शंकर द्विवेदी भास्कर द्वारा लिखा गया उपन्यास है। कवि द्वारा अभी तक लगभग 10 से अधिक पुस्तकों का लेखन किया जा चुका है। जिसमें उपन्यास, काव्य संग्रह, कहानी आदि हैं। इस उपन्यास की नायिका साक्षी नायक प्रकाश हैं। जो निस्वार्थ प्रेम की पृष्ठभूमि पर आधारित है। जो भुज और लाटून में आए विनाशकारी भूकंप का यथार्थ दस्तावेज है।

उक्त उपन्यास को एक ही दृष्टि में पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। 21 जनवरी वर्ष 2001 को लाटून और भुज में आए विनाशकारी भूकंप को केंद्र में रखकर लिखी यह कृति उपन्यास जगत के निमित्त नया प्रयोग है। जो गुजरात प्रांत में आए भूकंप त्रासदी का यथार्थ दस्तावेज है। प्रस्तुत कृति में प्रकृति विखंडन, प्राकृतिक त्रासदी, समरसता, भौगोलिक वातावरण तथा मानसिक एवं प्रेम का यथार्थ चित्रण जैसे मूल बिंदुओं के आंतरिक पक्ष को उकेरने, सहेजने का सार्थक प्रयास हुआ है।

कथा प्रधान उपन्यास जिसमें एक डॉक्टर का समूचा परिवार भूकंप की भेंट चढ़ गया। वह नैराश्य के सधन संकोच में डूबता चला गया। जो प्रकृति की बस विनाश लीला से त्रस्त हो पूछता है कि मेरा तो सब कुछ नष्ट हो गया। मैं किसके निमित्त जीवित रहूं? कौन देगा मेरे प्रश्नों का उत्तर? मानव या प्रकृति? यहां तो मानव के रूप में लासों के अंबार हैं और प्रकृति किए गए विनाश के पश्चात् मौन एवं क्षुब्द्ध है। इस उपन्यास की कथा क्रमागत न होते हुए विविध छोटी–छोटी घटनाओं को साथ लेकर चलती है। यही कारण है कि पाठक सहज ही कह उठता है कि यह कृति और इसकी रोचकता कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद के व्यापक दृष्टिकोण को प्रतिस्थापित करती हुई अग्रेषित होती है। जिसमें सामाजिक क्रूरता, अनुलोम– विलोम पक्ष, सत्य की प्रतिस्ठापना एवं सामाजिक अंन्तः विकृतियों को सहेजते सवारते हुए क्रमशः प्रेम के यथार्थ पृष्ठभूमि पर अवतरित एवं क्रमागत विकसित दिखाई पड़ती है।

साक्षी उपन्यास का नायक डॉ प्रकाश जो मुंबई के बाम्बे अस्पताल में डॉक्टर है। उसके पिता पंडित दीनदयाल शास्त्री जो सेवानिवृत्ति के पश्चात् समाज सेवा को ही अपना आधार बनाकर अपने पैतृक गांव कांजी ग्राम में रहने और जीवनयापन करने लगे। देश की आजादी में भी उन्होंने बढ़ चढ़कर भाग लिया था। उनमें नैतिकता, सदाचार और अनुशासन कूट–कूट कर भरा है। समाज और जनता की दृष्टि में वे देवपुरुष से कम नहीं है। देश काल और परिस्थितियों की प्रति उनके अंतःकरण में नवीन संचेतना एवं दृष्टि सृष्टि है। ईमानदारी और त्याग के प्रतिमूर्ति शास्त्री जी नगर में होने वाली पंचायत में सत्य का ही पक्ष लेते हैं। कांजी गांव के लोग न्यायालय पर उतना विश्वास नहीं करते जितना कि दीनदयाल शास्त्री पर। वहां न कोई मुकदमा है ना विवाद। उपन्यास के एक प्रसंग में नायक कहता है कि भूकंप की भीषण त्रासदी से छीन कर कौन ला सकेगा मेरे मां–बाप और प्राण प्रिय साक्षी को? अंजार, बचाउ एवं कांची गांव को किलकारियां खुशखलियों का मधुर मांस कौन लौट सकता है? कौन पोछेगा उन मासूमों के आंसू? उनमें कौन बचा है रोने वाला, सुदूर तक तो लाशें हा लाशें हैं। क्या बापू का न्याय पंचायत में निष्पक्ष निस्तारण पुनः कभी देखने को मिलेगा? क्या इस कांजी गांव में फिर कभी दीपावली दशहरा एवं नवरात्रि का त्यौहार मनाया जाएगा? प्रकाश सिर थाम कर वहीं बैठ जाता है (पृष्ठ संख्या –7)

इस उपन्यास की नायिका साक्षी है। साक्षी की मां पार्वती के निधन के पश्चात् लोगों के विशेष आग्रह पर उसके पिता श्रीव्रत ने विद्या नामक युवती से द्वितीय विवाह किया। विद्या साक्षी की विमाता थी। उसने कभी भी उसे वह प्यार नहीं दिया जिसके कारण यह शादी हुई थी। यही कारण था कि पति पत्नी में प्रायः नोक –झोक होता रहता। विद्या का चाल चलन ठीक न था। बोधू नामक युवक से उसने संबंध बनाया। व्यंग्य भरे शब्दों में श्रीव्रत ने एक प्रसंग में कहा कि बच्चों की पीड़ा का बोध तुम्हें कहां है। मां होती तो समझती। क्रोधित विद्या ने कहा तुम जैसे नामर्द से उम्मीद भी नहीं है। इन्हीं परिस्थितियों ने विद्या जैसी नारी हृदय को अनुचित मार्ग पर कदम रखने को विवश किया होगा। पृष्ठ संख्या 24

साक्षी बचपन में किसी ज्योतिषी द्वारा की गई भविष्यवाणी को सच मान बैठी है। उन्होंने कहा कि इस लड़की से जिसका भी विवाह होगा वह अल्पायु होगा और उसका समग्र जीवन झंझावातों में ही बीतेगा। पृष्ठ संख्या 78 के प्रसंग में साक्षी नायक से कहती है कि मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण आपका जीवन बर्बाद हो। मैं तुम्हारी पत्नी नहीं हो सकती भावप्रेयसी समझो।

प्रकाश कहता है कि मैं पाखंड और तुम्हारे रूढ़ीगत विचारों की भर्त्सना करता हूं। मैं कर्मवादी हूं भाग्यवादी और रूढिगत परंपराओं का विरोधी हूं। प्रकाश के विरोध में साक्षी करती है कि नारी हृदय की संवेदना एवं प्रेम समर्पण की गहनता को तुम क्या समझोगे। प्रकाश नारी पुरुष से अधिक भावुक और यथार्थ ग्राही होती है। सौंदर्य बोध एवं आकर्षण के प्रति आकृष्ट होना जहां

उसका विशिष्ट गुण है वही जिसे आत्मदेव बनाना चाहती है उसके अहित की कल्पना भी नहीं करती। उसमें त्याग तितिक्षा की प्रवृत्ति प्रभावी रहती है। वह नहीं चाहती की कृतज्ञता जैसे घृणित शब्दों का वह पर्याय बने।

तात्पर्य है कि भास्कर ने प्रस्तुत उपन्यास के कथानक की पृष्ठभूमि में संघर्ष, दर्द, चित्कार, करुणा, रुढिता, प्रेम की सात्विकता आदि वृत्तों के संगठन को जोड़ने सजोंने में सफलता अर्जित की है। नारी स्वतंत्रता की स्थापना वर्चस्व तथा मानसिक अंतर्द्वन्द और उसके स्वरूप का भी यथार्थ चित्रण किया है।

लेखकीय संवेदनाओं के धरातल पर मूल्यांकन करने से ज्ञात होता है कि भास्कर जी ने प्रकृति ग्रामीणांचल तथा शहरी चकाचौध जैसे वृत्तों का तथा उभय स्थलों की संस्कृति, सभ्यता, वेशभूषा, खान–पान तथा मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखते हुए समाज के नए पुराने प्रसंग की प्रासंगिकता बिना लाग लपेट के उजागर किया है।

जीवन के विविध पहलुओं पर रचित यह कृति अपने मूल में सहेजे नवीन चिंतन, दस्यु उन्मूलन, विधवा विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों, आदर्शवाद और मानव मूल्य जैसे सुविचार उपन्यास की कथा को विशेष परिपुष्ट और सफल बनाते हैं।

उपन्यास के प्रत्येक पहलुओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास में प्रत्येक पात्र जीवंत प्रतीत होता है। जो आशीर्वाद का चोला ओढ़े हुए थे। अनुशासित और मर्यादित बन रहते हैं। देश काल और तत्कालीन परिस्थितियों का सजीव चित्रण हुआ है। साक्षी उपन्यास के लेखक का हर उद्देश्य मानवीय मूल्य की स्थापना, प्रकृति के सिद्धांतों का अनुसरण करना तथा मानव संबंधों के अनुलोम विलोम पक्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना है। आज हमारा विज्ञान चाहे जितना विकास कर ले लेकिन जब भी देवीय प्राकृतिक आपदाएं आती हैं वहां वह कमजोर और असहाय प्रतीत होता है। साक्षी उपन्यास की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। व्यवहारिक बोलचाल के शब्दों में युक्तियों का समय–समय पर प्रयोग हुआ है। शब्द शिल्प विधान की कसौटी पर कसने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास में वाच्य विन्यास शब्द शिल्प समुचित हुआ है। सुसंगत एवं प्रवाह पूर्ण है भावों विचारों की सटीक अभिव्यक्ति है। वाच्य भी लालित्यपुर्ण दिखाई पड़ते हैं। भाषा समय–समय पर परिवर्तित होते हुए भी सामंजस्य संपूर्ण है। भाषिक संरचना में यत्र तत्र उर्दू, अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी सहजता से हुआ है। पात्रों का चयन भी पूर्ण सटीक और मनोवैज्ञानिक है।

समीक्षक
डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी

सम्पादक
शोधमार्तण्ड
प्राचार्य
श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय
सुजानगंज, जौनपुर (उ0प्र0)